आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

निबंध-यात्रा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

निबंध-यात्रा

डॉ॰ कृष्णदेव झारी

इतिहास-शोध-संस्थान, नई दिल्ली

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : निबंध-यात्रा ।। शोध-आलोचना
।। डॉ० कृष्णदेव झारी ।।

प्रकाशक

इतिहास-शोध-संस्थान
33/1 भूलभुलैया रोड, महरौली
नई दिल्ली—110030

प्रथम, संस्करण
1984

मूल्य
सत्तर रुपये
(70.00 रु०)

।। विजयदेव झारी द्वारा इतिहास-शोध-संस्थान, नई दिल्ली के लिए प्रकाशित एवं
जे० एस० प्रिंटर्स, मौजपुर, दिल्ली में मुद्रित ।।

Acharya Ramchandra Shukla : Nibandh Yatra (Criticism)
by Dr. Krishan Dev Jhari

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तुति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारत के ऐसे विरले प्रतिभाशाली साहित्यकार थे जिन्होने अपने मौलिक चिंतन और लेखन द्वारा हिन्दी साहित्य के उन्नयन का मार्ग प्रशस्त किया। द्विवेदी युग मे उत्पन्न होकर भी उन्होने नवयुग-निर्माण का कार्य किया। यों तो वे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे, किन्तु साहित्येतिहास, आलोचना और काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में उनकी देन विशेष महत्वपूर्ण है।

शुक्ल जी का काव्य-चिंतन उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अलावा मुख्यत: निबंधों—लघु निबंध एवं दीर्घ निबंध (परिबंध)—के रूप में ही प्रकट हुआ है। अत: उनके निबंधो का अध्ययन अथवा निबंध-यात्रा से तात्पर्य केवल निबंधकार-रूप का उद्घाटन ही नही है, अपितु उसके साथ ही उनके आलोचक और काव्य-शास्त्री रूप भी जुड़े हुए हैं।

शुक्ल जी के ये गंभीर निबंध 'चिंतामणि' के तीन भागो मे संकलित हुए हैं। चिंतामणि भाग 3 में उनके आरभिक 21 निबंध संकलित किए गए हैं। अभी कुछ और आरभिक निबंध जैसे 'भ्रम', 'निद्रा-रहस्य', 'मित्रता' आदि अमूर्त भावो-सम्बधी एवं 'प्राचीन भारतीयो का पहरावा', 'भारत के इतिहास मे हूण', 'प्राचीन भारतवासियो की समुद्र-यात्रा', 'पारस का प्राचीन इतिहास,' 'सदाचार और उत्तम प्रकृति,' 'प्रगति वा उन्नति: उसका नियम और निदान' आदि कई अनूदित तथा मौलिक निबंध, 'सूरदास' आदि पुस्तकों की कुछ भूमिकाएं, तथा 'रस-मीमांसा' के लेख 'चिंतामणि' की इस सकलन-परंपरा मे अभी प्रकाशित होने रहते हैं। मैं समझता हूं कि इन सबका संकलन भी चिंतामणि भाग 4 और 5 और यदि आवश्यक हो तो और भागों मे प्रकाशित होना चाहिए ताकि शुक्ल जी के समस्त निबध-साहित्य का संकलन एक शृखला मे आबद्ध हो और काल-क्रमानुसार ही संकलनों के भाग बनें। यह नही कि चिंतामणि 3 मे आरभिक निबध हों और 1-2 मे बाद के।

प्रस्तुत पुस्तक मे मैंने शुक्ल जी के निबंधो की सम्पूर्ण विशेषताओ और उनके सभी पक्षो का विवेचन कर शुक्ल जी के निबधकार का एक सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। शुक्ल जी के व्यक्तित्व के विविध रूपों—बुद्धि, हृदय

और शैली—का विस्तारपूर्वक उद्घाटन किया है। आरंभ मे हिन्दी निबंध के विकास की पीठिका मे शुक्ल जी के अवदान को आका गया है। आचार्य शुक्ल ने विचारात्मक निबधो का जो आदर्श हमारे सम्मुख रखा है, वह उनके निबंधों मे कहा तक चरितार्थ हुआ है—इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है। 'अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि' कहा-कहा 'मार्मिक और भावाकर्षक स्थलो' पर पहुंची है—कहा-कहा हृदय रमता गया है—यह सब ढूंढा-खोजा गया है।

मनोभावो-सम्बधी निबधो मे शुक्ल जी का जो उदात्त जीवन-दर्शन पाया जाता है, उसका भी उद्घाटन किया है। विषय-पक्ष और व्यक्तित्व दोनो की गुरु-गभीरता शुक्ल जी के निबधो को जो विशिष्टता प्रदान करती है, उसे स्पष्ट किया गया है। शुक्ल जी के सैद्धांतिक निबधो मे उनके काव्य-सिद्धात-निर्माता रूप का विश्लेषण किया गया है। अत मे पहली बार शुक्ल जी के आरंभिक निबधो विशेषत चिंतामणि 3 मे सकलित निबधो का अध्ययन करके शुक्ल जी की निबध-कला के क्रमिक विकास का परिचय कराया गया है। पुस्तक मे शुक्ल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व से न्याय कर सका हू, ऐसा मुझे पूरा विश्वास है। फिर भी पूर्णता का दावा कोरा दभ ही होता है। पुस्तक विद्वानो और सुधी पाठको के सम्मुख है। आशा है शुक्ल जी के कृतित्व की विशेषताओ को समझने-समझाने मे यह पुस्तक पर्याप्त सहायक सिद्ध होगी।

कृष्णदेव भारी

भूलभुलैया रोड, महरौली
नई दिल्ली—110030

1

हिन्दी निबंध । उद्भव और विकास

शुक्ल-पूर्व हिन्दी निबन्ध की गतिविधि

'गद्य कविनाम् निकष वदन्ति'—"यदि गद्य कवियो की कसौटी है तो निबध गद्य की कसौटी है"—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन बहुत यथार्थ है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबधो मे ही सर्वाधिक सभव होता है। निबधो से ही भाषा की शिथिलता और अयोग्यता दूर होती है। निबधो मे विषयो की अनेकरूपता तथा भाषा-लाघव के कारण शब्दावली मे पारिभाषिक परिपक्वता तथा अर्थगत सूक्ष्मता के साथ-साथ शब्द-भण्डार की वृद्धि होती है। जिस भाषा मे निबध साहित्य की जितनी विविधता और प्रचुरता होगी, उसकी सर्वांगीण क्षमता उतनी ही अधिक मानी जाएगी। गद्य की विविध शैलियो का समुचित विकास निबधो मे ही सभव होता है। गद्य लेखक की निजी शैली का चरम विकास निबध मे ही सर्वाधिक होता है। 'शैली ही व्यक्तित्व है" की उक्ति निबध म ही सबसे अधिक घटती है। यही नही, चिन्तन-मनन से युक्त समाज के तत्त्व, जीवन की ठोस समस्याओ का हल सबसे अधिक निबध मे ही सभव है। निबध-साहित्य ही किसी जाति के मस्तिष्क का कोष होता है। अग्रेजी साहित्य अपने समृद्ध निबध-साहित्य के कारण ही सर्वाधिक सम्मान पा सका है। निबध मे विचार-तत्त्व सर्वाधिक रहता है। ससार की किसी भाषा के साहित्य को ले लीजिए, उसकी उच्चता, प्रौढता और श्रेष्ठता का आधार उसका प्रौढ निबध साहित्य ही बनता है। यह इतनी सशक्त साहित्य-विधा हमारे यहा आधुनिक युग मे पश्चिम को परम्परा से आई है। इसका सम्बन्ध गद्य से ही है।

भारतेन्दु युग—हिन्दी निबध का जन्म गद्य के आविर्भाव तथा पत्र पत्रिकाओ के चलन के साथ ही भारतेन्दु-युग मे हुआ। साहित्य की यह विधा आधुनिक गद्य-युग मे पश्चिम के प्रभाव से ही हमारे यहा आई। भारतेन्दु और उनके लेखक-मण्डल को ही हिन्दी मे इस विधा के जन्म का श्रेय प्राप्त है। इस युग के लेखक अपने-अपने पत्रो के सम्पादक भी थे। अत इस युग की विपुल निबध-सम्पत्ति तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकट हुई। यह युग भारतीय समाज मे एक नई सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का युग था। अत विषय की विविधता, सामाजिक-सांस्कृतिक जागरूकता, शैली की स्वच्छन्दता और रोचकता आदि इस युग के

निबधो के कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं, जो तत्कालीन परिस्थितियो और पत्रकारिता से सम्बन्ध रखते हैं। इस युग के साहित्य का, परिमाण और कला-विकास दोनो ही दृष्टि से, सम्भवत सबसे सशक्त अग निबध ही है।

विषय-प्रवृत्ति के विचार से भारतेन्दु युग के निबध सामाजिक-राष्ट्रीय निबध हैं, जिनमे समाज-सुधार की भावना मूल रूप मे पाई जाती है। इस युग के साहित्य की सामान्य विशेषता—व्यग्य-विनोद, जिन्दादिली और सजीवता निबधो मे खूब है। विविध विषयो पर हल्की फुल्की सक्षिप्त शैली मे स्वच्छन्दतापूर्वक बिना किसी प्रकार की औपचारिकता के आत्मीयता के साथ निबध लिखना इस काल के लेखको की सामान्य विशेषता है। निबध-साहित्य के इस आरभ काल मे ही निर्बन्ध निबधो का अच्छा स्वरूप-विकास हुआ। किन्तु विचारात्मक परिबध निबध लिखने की प्रवृत्ति इस युग मे नही दिखाई दी। इस काल के निबधो मे चिन्तन की गहराई का अभाव है। इस युग के निबध-साहित्य से मनोरजन के साथ विविध विषयो की सामान्य विचार-परम्परा की उपलब्धि तो हुई, किन्तु स्थायी विषयो पर गूढ चितन के द्योतक निबध इस युग मे नही मिलते। इस युग के विशिष्ट निबधकारो मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प० बद्री नारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, ला० तोताराम, श्री ज्वालाप्रसाद और बाबू बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं। हिन्दी निबध के जन्म और विकास म प० बालकृष्ण भट्ट का बहुत योग है। भट्ट जी ने अनेक साधारण विषयो पर छोटे-छोटे रोचक निबध लिखे हैं। अपने 'हिन्दी प्रदीप' पत्र का ये स्वय सम्पादन करते थे और लगभग 32 वर्ष तक उनकी अथक लेखनी समाज, सस्कृति, देश और हिन्दी भाषा तथा साहित्य के उत्थान के लिए बराबर सक्रिय रही। आप हिन्दी के पहले और अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबधकार हैं। आपका व्यग्य परिष्कृत है। आपकी भाषा मे फारसी, अग्रेजी, पूर्वी, ब्रज आदि के शब्दो का भी खूब प्रयोग हुआ है। मुहावरो, कहावतो तथा सस्कृत, अग्रेजी, फारसी, उर्दू-हिन्दी आदि सभी भाषाओ के लेखको की रचनाओ से प्रसिद्ध उक्तियो व उद्धरणो का वे विशेष रूप से प्रयोग करते थे।

श्री प्रताप नारायण मिश्र—इस युग के दूसरे प्रमुख निबधकार हैं। अपने 'ब्राह्मण' पत्र मे ये विविध विषयों—देश-दशा, समाज-सुधार, हिन्दी प्रचार तथा साधारण मनोरजन के विषयो पर निबध लिखते थे। इनकी विनोदप्रिय प्रकृति इनके निबन्धों मे प्रत्यक्ष रूप से पाई जाती है। कैसा ही गम्भीर विषय हो वे उसकी गहराई मे न जाकर उसमे मनोरजन की सामग्री ढूँढ ही लेते थे। उनके हल्के-फुल्के निबधो के शीर्षक—'समझदार की मौत है', 'भौं', 'वृद्ध' आदि ही उनकी व्यग्य-विनोदमयी प्रकृति के परिचायक हैं। शुक्ल जी ने मिश्र जी और भट्ट जी को हिन्दी का एडीसन और स्टील कहा है।

उर्दू के क्षेत्र से आये बाबू बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के सधिकाल के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। आपने कुछ जीवन-चरितात्मक निबंध भी लिखे हैं। 'शिवशम्भू का चिट्ठा' नामक सग्रह मे आपके कुछ अच्छे निबंध है। राजनीति के क्षेत्र मे आपने अच्छी जागरूकता दिखाई। आपका व्यग्य भी शिष्ट एव अपेक्षाकृत अधिक व्यजक है।

द्विवेदी युग—इस प्रकार हिन्दी निबंध के रूप-निर्माण मे भारतेन्दु-युग के निबंधकारो का बहुत महत्त्व है। पर उस युग के निबन्धो के विषय और उपादान सीमित ही रहे। केवल साहित्यिक और सामाजिक विषय-क्षेत्र ही अपनाया गया। भाषा-शैली के भी निश्चित और निर्दोष रूप की प्रतिष्ठा भारतेन्दु-युग मे नही हो सकी थी। सन् 1903 मे 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य अपने हाथ मे लेने पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निबंध की गद्य भाषा के सुधार और निर्माण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने गद्य-शैलियो के निर्माण, भाषा के परिष्कार और व्याकरण-शुद्धता के महत्त्वपूर्ण कार्य के साथ-साथ हिन्दी निबंध के विषय-क्षेत्र-विस्तार तथा उसके रगरूप को गम्भीर बनाने का भी प्रयत्न किया। अत द्विवेदी युग मे विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित बौद्धिक विषयो को अपनाया गया। बेकन के अग्रेजी निबंधो का अनुवाद द्विवेदी जी ने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से तथा श्री गगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी के निबंधकार चिपलूणकर के निबंधो का 'निबंध मालादर्श' नाम से हिन्दी मे अनुवाद किया। ये गम्भीर विचारात्मक निबंध आदर्श तो माने गए पर बेकन के निबंधो जैसा विचार-गाम्भीर्य और मौलिकता द्विवेदी जी अथवा इस युग के किसी अन्य निबंधकार मे न आ पाई। द्विवेदी जी के 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि-कर्त्तव्य', 'प्रतिभा' आदि निबंध महत्त्वपूर्ण तो हैं, पर विवेचन की वह गहराई उनमे नही पाई जाती जो शुक्ल जी आदि आगे के निबंधकारो मे है।

द्विवेदी जी के निबंध विचारात्मक कोटि के ही हैं। पर उनमे व्यक्तित्व और शैली की विशिष्टता तथा रोचकता का गुण कम है। द्विवेदी जी सरल शैली के पक्षपाती थे, अत उनके विचारात्मक निबंधो मे व्यास शैली प ई जाती है। द्विवेदी जी ने हिन्दी निबंध को निबंधता, विषय-विस्तार, भाषा का परिष्कार और बौद्धिकता प्रदान की।

वास्तव मे उस युग के हिन्दी पाठक की बौद्धिक इयत्ता भी सम्भवत, सीमित थी। यही कारण है कि न-केवल महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र बधु आदि निबंधकारों ने चिन्तनीय विषयो की सरल व्याख्या ही की, अपितु आरम्भ में स्वय शुक्ल जी के उस समय प्रकाशित हुए निबंध—'साहित्य', 'कविता क्या है' (आरम्भिक रूप मे), 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' आदि साहित्यिक निबंध तथा 'भ्रम', 'निद्रा-रहस्य', 'लोभ या प्रेम' आदि अमूर्त्त विषयो पर लिखे निबंध (नागरी पत्रिका के

निबंधों के कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं, जो तत्कालीन परिस्थितियों और पत्रकारिता से सम्बन्ध रखते हैं। इस युग के साहित्य का, परिमाण और कला-विकास दोनों ही दृष्टि से, सम्भवतः सबसे सशक्त अंग निबंध ही है।

विषय-प्रवृत्ति के विचार से भारतेन्दु युग के निबंध सामाजिक-राष्ट्रीय निबंध हैं, जिनमें समाज-सुधार की भावना मूल रूप में पाई जाती है। इस युग के साहित्य की सामान्य विशेषता—व्यंग्य विनोद, जिन्दादिली और सजीवता निबंधों में खूब है। विविध विषयों पर हल्की फुल्की संक्षिप्त शैली में स्वच्छन्दतापूर्वक बिना किसी प्रकार की औपचारिकता के आत्मीयता के साथ निबंध लिखना इस काल के लेखकों की सामान्य विशेषता है। निबंध-साहित्य के इस आरंभ काल में ही निर्बन्ध निबंधों का अच्छा स्वरूप-विकास हुआ। किन्तु विचारात्मक परिबद्ध निबंध लिखने की प्रवृत्ति इस युग में नहीं दिखाई दी। इस काल के निबंधों में चिन्तन की गहराई का अभाव है। इस युग के निबंध-साहित्य से मनोरंजन के साथ विविध विषयों की सामान्य विचार परम्परा की उपलब्धि तो हुई, किन्तु स्थायी विषयों पर गूढ़ चिंतन के द्योतक निबंध इस युग में नहीं मिलते। इस युग के विशिष्ट निबंधकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प० बद्री नारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, ला० तोताराम, श्री ज्वालाप्रसाद और बाबू बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं। हिन्दी निबंध के जन्म और विकास में प० बालकृष्ण भट्ट का बहुत योग है। भट्ट जी ने अनेक साधारण विषयों पर छोटे-छोटे रोचक निबंध लिखे हैं। अपने 'हिन्दी प्रदीप' पत्र का ये स्वयं सम्पादन करते थे और लगभग 32 वर्ष तक उनकी अथक लेखनी समाज, संस्कृति, देश और हिन्दी भाषा तथा साहित्य के उत्थान के लिए बराबर सक्रिय रही। आप हिन्दी के पहले और अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं। आपका व्यंग्य परिष्कृत है। आपकी भाषा में फारसी, अंग्रेजी, पूर्वी, ब्रज आदि के शब्दों का भी खूब प्रयोग हुआ है। मुहावरों, कहावतों तथा संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू हिन्दी आदि सभी भाषाओं के लेखकों की रचनाओं से प्रसिद्ध उक्तियों व उद्धरणों का वे विशेष रूप से प्रयोग करते थे।

श्री प्रताप नारायण मिश्र—इस युग के दूसरे प्रमुख निबंधकार हैं। अपने 'ब्राह्मण' पत्र में ये विविध विषयों—देश-दशा, समाज-सुधार, हिन्दी प्रचार तथा साधारण मनोरंजन के विषयों पर निबंध लिखते थे। इनकी विनोदप्रिय प्रकृति इनके निबन्धों में प्रत्यक्ष रूप से पाई जाती है। कैसा ही गम्भीर विषय हो वे उसकी गहराई में न जाकर उसमें मनोरंजन की सामग्री ढूँढ ही लेते थे। उनके हल्के फुल्के निबंधों के शीर्षक—'समझदार की मौत है', 'भौं', 'वृद्ध' आदि ही उनकी व्यंग्य-विनोदमयी प्रकृति के परिचायक हैं। शुक्ल जी ने मिश्र जी और भट्ट जी को हिन्दी का एडीसन और स्टील कहा है।

उर्दू के क्षेत्र से आये बाबू बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के संधिकाल के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। आपने कुछ जीवन-चरितात्मक निबंध भी लिखे हैं। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' नामक संग्रह में आपके कुछ अच्छे निबंध हैं। राजनीति के क्षेत्र में आपने अच्छी जागरूकता दिखाई। आपका व्यंग्य भी शिष्ट एवं अपेक्षाकृत अधिक व्यंजक है।

द्विवेदी युग—इस प्रकार हिन्दी निबंध के रूप-निर्माण में भारतेन्दु-युग के निबंधकारों का बहुत महत्त्व है। पर उस युग के निबन्धों के विषय और उपादान सीमित ही रहे। केवल साहित्यिक और सामाजिक विषय-क्षेत्र ही अपनाया गया। भाषा-शैली में भी निश्चित और निर्दोष रूप की प्रतिष्ठा भारतेन्दु-युग में नहीं हो सकी थी। सन् 1903 में 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य अपने हाथ में लेने पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निबंध की गद्य भाषा के सुधार और निर्माण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने गद्य-शैलियों के निर्माण, भाषा के परिष्कार और व्याकरण-बद्धता के महत्त्वपूर्ण कार्य के साथ-साथ हिन्दी निबंध के विषय-क्षेत्र-विस्तार तथा उसके रगरूप को गम्भीर बनाने का भी प्रयत्न किया। अत द्विवेदी युग में विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित बौद्धिक विषयों को अपनाया गया। बेकन के अंग्रेजी निबंधों का अनुवाद द्विवेदी जी ने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से तथा श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी के निबंधकार चिपलूणकर के निबंधों का 'निबंध मालादर्श' नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। ये गम्भीर विचारात्मक निबंध आदर्श तो माने गए पर बेकन के निबंधों जैसा विचार-गाम्भीर्य और मौलिकता द्विवेदी जी अथवा इस युग के किसी अन्य निबंधकार में न आ पाई। द्विवेदी जी के 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि-कर्त्तव्य', 'प्रतिभा' आदि निबंध महत्त्वपूर्ण तो हैं, पर विवेचन की वह गहराई उनमें नहीं पाई जाती जो शुक्ल जी आदि आगे के निबंधकारों में है।

द्विवेदी जी के निबंध विचारात्मक कोटि के ही हैं। पर उनमें व्यक्तित्व और शैली की विशिष्टता तथा रोचकता का गुण कम है। द्विवेदी जी सरल शैली के पक्षपाती थे, अत. उनके विचारात्मक निबंधों में व्यास शैली पाई जाती है। द्विवेदी जी ने हिन्दी निबंध को निबंधता, विषय-विस्तार, भाषा का परिष्कार और बौद्धिकता प्रदान की।

वास्तव में उस युग के हिन्दी पाठक की बौद्धिक इयत्ता भी सम्भवतः सीमित थी। यही कारण है कि न-केवल महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र बंधु आदि निबंधकारों ने चिन्तनीय विषयों की सरल व्याख्या ही की, अपितु आरम्भ में स्वयं शुक्ल जी के उस समय प्रकाशित हुए निबंध—'साहित्य', 'कविता क्या है' (आरम्भिक रूप में), 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' आदि साहित्यिक निबंध तथा 'भ्रम', 'निद्रा-रहस्य', 'लोभ या प्रेम' आदि अमूर्त्त विषयों पर लिखे निबंध (नागरी पत्रिका के

17वें, 18वें, 19वें तथा 23वें अंकों में प्रकाशित) भी सरल 'व्याख्यात्मक' ढंग पर ही लिखे गए थे।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जयशंकर प्रसाद आदि कुछ लेखकों ने अवश्य इस काल में कुछ गवेषणात्मक गम्भीर लेख और निबंध लिखे। साहित्यिक विषयों पर भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, श्री पदमलाल पन्नालाल बख्शी आदि साहित्य-विचारक इसी युग में अपनी निबंध-साधना करने लगे थे, फिर भी इस काल के विचारात्मक निबंधों में लेखक के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और रोचकता का अभाव ही रहा।

द्विवेदी युग में भावात्मक निबंधों का अच्छा विकास हुआ। श्री पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, पं० माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के विशिष्ट निबंधकार हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली बड़ी रोचक और फड़कती हुई आकर्षक शैली है। उनके लिखे चरितात्मक और संस्मरणात्मक निबंध बहुत मार्मिक हैं। श्री माधवप्रसाद मिश्र का गद्य बहुत परिष्कृत है। इन्होंने विषयानुरूप शैली का सुन्दर प्रयोग किया है। त्यौहारों-पर्वों तथा तीर्थ-स्थानों आदि पर लिखे इनके निबंधों में इनकी विद्वत्ता, देश प्रेम और भारतीय संस्कृति के प्रति इनकी निष्ठा के दर्शन होते हैं। इनकी भावुकता निबंधों में स्थान-स्थान पर पाई जाती है।

अध्यापक पूर्णसिंह केवल तीन-चार निबंध लिखकर ही हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना गए हैं। उनके भावात्मक निबंध उनकी अमर रचनाएँ हैं। भावना, चिन्तन, प्रगतिशील विचारधारा, आध्यात्मिकता, विश्वबंधुत्व की उदार भावना तथा शैली की उत्कृष्टता आदि विशेषताएं उनके निबंधों को अमर बनाती है। गुलेरी जी के निबंध भारतेन्दु-युग की परम्परा में होते हुए भी विचारों और शैली की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखते हैं। उस काल के लेखकों से इनकी विचारधारा अधिक प्रगतिशील, व्यंग्य अधिक परिष्कृत तथा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना अधिक विकसित है। 'कछुआ धर्म', 'मारेसिमोहिं कुठाव', 'संगीत' आदि निबंधों में उनकी शैली का उत्कर्ष अवलोकनीय है। गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' आदि कुछ निबंध गवेषणात्मक-आलोचनात्मक भी लिखे जो विषय-प्रधान विचारात्मक निबंध है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल—द्विवेदी युग के विचारात्मक निबंध का चरम उत्कर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ही निबंधों में प्रकट हुआ। उनके निबंध (चिन्तामणि भाग 1,2,3) उनके अन्त प्रयास से निकली विचारधारा के परिणाम हैं। समास शैली में विचारों की ऐसी गूढ़ गुम्फितपरम्परा इनसे पूर्व के निबंधों में नहीं थी। विषय और व्यक्तित्व तथा बुद्धि और हृदय का समन्वय शुक्ल जी के निबंधों की

शक्ति है। गहन विचार-वीथियो के बीच-बीच उनके निबंधो मे सरस भाव-स्रोत स्थान-स्थान पर परिलक्षित होते हैं। शुक्ल जी के मनोभावो-सम्बन्धी निबंध उनके सर्वश्रेष्ठ निबन्ध है। साहित्यिक उद्देश्य के साथ-साथ उनके निबंधो मे सामाजिक उद्देश्य भी निहित रहता है। सारगर्भित व्यजना-प्रधान विवेचनात्मक समासशैली शुक्ल जी की अद्भुत देन है। उनके सूत्ररूप मे घनीभूत वाक्यो की ध्वनि दूर तक जाती है, जैसे 'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है', 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है' आदि। निस्सदेह शुक्ल जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विचारात्मक निबंधकार है।

शुक्लोत्तर निबन्धकार—शुक्ल जी की ही परम्परा मे वर्तमान युग के विचारात्मक निबंधकारो मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय, श्री इलाचन्द्र जोशी, डा० देवराज, श्री अज्ञेय आदि उल्लेखनीय है। इनकी साहित्यिक चेतना खूब बढी-चढी है। इन्होंने अनेक आलोचनात्मक विषयों पर निबंध लिखे है।

आलोचनात्मक साहित्यिक विषयो पर लिखने वालो मे श्री गगाप्रसाद पाडेय, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि कुछ लेखक ऐसे हैं जिनके निबंधो मे छायावादी शैली की व्यक्तिगत विशेषता पाई जाती है। इनके आलोचनात्मक निबधो मे इनके व्यक्तित्व तथा भावुकता की आभा स्पष्ट झलकती है। जो स्वच्छन्दता और सवेदनशीलता निबधकार के लिए अपेक्षित है, वह उनमे पूर्णत. पाई जाती है।

हिन्दी निबध साहित्य के विकास मे छायावाद के चारो स्तम्भो—पन्त, निराला, प्रसाद और महादेवी का भी योगदान है। निराला के स्वच्छन्द विद्रोही व्यक्तित्व का परिचय उनके कुछ निबंधो मे मिलता है। 'गद्यपथ' सग्रह तथा पुस्तको की भूमिकाओ आदि के रूप मे पत जी के, 'काव्यकला तथा अन्य निबंध' मे प्रसाद जी के तथा भूमिकाओ और 'क्षणदा' सग्रह मे महादेवी के आलोचनात्मक निबध सकलित हैं।

श्री जैनेन्द्र कुमार ने कथाकार के अतिरिक्त निबधकार के रूप मे भी अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। विविध प्रकार की सामाजिक, साहित्यिक समस्याओं तथा अन्य विचारात्मक विषयो पर आपने सुन्दर विचारात्मक निबंध लिखे हैं। दार्शनिक गभीरता इनमें खूब है। जैनेन्द्र जी की शैली भी पर्याप्त रोचक है।

दार्शनिक, पुरातत्त्व, सास्कृतिक और आध्यात्मिक विषयो पर लिखने वालो मे जैनेन्द्र जी के अतिरिक्त श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्यकेतु विद्यालकार, डा० बलदेव उपाध्याय आदि और भी कई लेखक उल्लेखनीय हैं। इनकी अनुसधानात्मक प्रतिभा और विद्वत्ता इनके निबधो मे स्पष्ट झलकती है।

वर्तमान काल मे अनेक लेखकों ने हिन्दी मे सुन्दर निर्बन्ध निबंध भी लिखे हैं। श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी जहां आलोचनात्मक साहित्यिक निबंध लिखने मे डा० श्यामसुन्दर दास, श्री गुलाब राय प्रभृति लेखकों की श्रेणी मे आते हैं, वहा उनके निर्बन्ध निबंधो मे उनके निबंधकार की प्रतिभा का विकास और भी अधिक हुआ है। 'कुछ' तथा 'कुछ और' संग्रह मे संकलित इनके निबंधो मे पर्याप्त रोचकता पाई जाती है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी वर्तमान कालीन निबंधकारो मे प्रथम श्रेणी के लेखक हैं। अपूर्व पांडित्य, विकसित और विस्तृत ऐतिहासिक-सास्कृतिक चेतना, परिष्कृत भावना तथा सरलता और सरसता इनके निबंधो की विशेषता है। एक ओर जहा आप गम्भीर अनुसंधानात्मक अथवा आलोचनात्मक साहित्यिक विषयो पर विद्वत्तापूर्ण परिबंध निबंध लिखते हैं, वहा दूसरी ओर 'अशोक के फूल', 'नाखून क्यों बढते हैं', 'आम फिर बौरा गए', 'एक कुत्ता और एक मैना' आदि हल्के-फुल्के विषयो पर अनौपचारिक ढग से रोचक निर्बन्ध निबंधो की रचना करते हैं।

कुछ ऐतिहासिक विषयो और प्रसगो को अपनाकर उच्चकोटि के भावात्मक निबंध डा० रघुवीरसिंह ने लिखे हैं। अतीत इतिहास की स्मृतियों के भावात्मक चित्र अंकित करने म आप बहुत कुशल हैं। आपकी भावात्मक शैली बहुत रोचक और प्रौढ है। 'शेष स्मृतिया' आपके श्रेष्ठ निबंधो का सग्रह है।

हिन्दी मे कथात्मक-संस्मरणात्मक निबन्ध लिखने वालो मे महादेवी वर्मा, श्री गुलाब राय, काका गाडगिल, श्री सियारामशरण गुप्त आदि सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। बाबू गुलाब राय ने जहा आलोचनात्मक साहित्यिक विचारात्मक निबंध लिखे हैं, वहां व्यग्य-विनोदमयी शैली मे बडी रोचकता के साथ सुन्दर कलापूर्ण संस्मरणात्मक एव वैयक्तिक निर्बन्ध निबंध लिखने की भी अपार क्षमता दिखाई है। उनके निबंधकार की पूर्ण सफलता उनके 'मेरी असफलताएँ', 'फिर निराश क्यो ?' और 'मेरा जीवन-बीमा' सग्रहो के ऐसे निबंधो मे ही सिद्ध हुई है।

महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाए' आदि मे सकलित अपने संस्मरणो मे अपने हृदय की सवेदनशीलता, दुखी मानवता के प्रति अपनी सहानुभूति और करुणा का सुन्दर परिचय दिया है। महादेवी के संस्मरण उनके व्यक्तित्व के अमर स्मारक हैं। कहानी की रजकता, गद्यकाव्य-सी भाव-प्रवणता और उत्कृष्ट साहित्यिक शैली तीनो का इनमे भव्य मिश्रण है। वैयक्तिक घटनाओ, प्रसगो, संस्मरणो के आधार पर कथात्मक शैली म श्री एन०वी० गाडगिल ने भी कुछ सुन्दर निबंध लिखे हैं। 'एक हजार वर्ष बाद' नामक सग्रह के

निबघो मे कहानी की रोचकता, विचारो की गम्भीरता और भावमयता आदि गुण पाये जाते हैं।

हिन्दी मे वर्णनात्मक निबन्धों की भी कमी नही। प्राकृतिक दृश्यो तथा अन्य पदार्थों के सुन्दर वर्णन मे अनेक लेखको ने अपनी-अपनी लेखनी की कुशलता दिखाई है। स्वामी सत्यदेव, राहुल जी, देवेन्द्र सत्यार्थी, सियारामशरण गुप्त, श्रीराम शर्मा, कृष्णदेव वर्मा आदि लेखको ने प्राकृतिक दृश्यो, यात्रा, शिकार आदि विषयो पर सुन्दर वर्णनात्मक निबन्ध लिखे है।

हिन्दी मे इधर कुछ अच्छे व्यंग्यात्मक निबन्ध भी प्रकाश मे आए है। श्री यशपाल, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रभाकर माचवे ('खरगोश के सीग'), डा० नामवर सिह (बक्लम खुद), उपेन्द्रनाथ अश्क आदि लेखक इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन लेखको ने अपने निबन्धो मे बडे तीखे सामाजिक व्यग्य किए हैं। इस क्षेत्र मे प० कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, हरिशकर परसाई तथा विद्यानिवास मिश्र ('चितवन की छाह' सग्रह) आदि नई प्रतिभाए भी प्रकाश मे आई हैं।

इस प्रकार हिन्दी का निबन्ध-साहित्य विषय-विस्तार और रचना-शिल्प की दृष्टि से खूब समृद्ध हो रहा है। कुछ लेखको ने रचनागत नवीन प्रयोग भी किए हैं। प्राय सभी प्रकार के विषयो पर विभिन्न शैलियो मे लिखा जाता है, हा अभी तक हिन्दी मे गूढ शास्त्रीय विषयो—जैसे अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि पर साहित्यिक शैली म कम निबन्ध लिखे गए हैं। भविष्य आशाजनक है, इसमे सन्देह नही।

००

2

निवंध : तात्त्विक विवेचन

निबंध—अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

हिन्दी मे 'निबध' नाम से जिस साहित्य विधा की प्रतीति कराई जाती है, वह वास्तव में लैटिन के 'एग्जीयर', फ्रेंच के 'एसाइ' और अग्रेजी के एसे (Essay) का पर्यायवाची है। शाब्दिक दृष्टि से पाश्चात्य और भारतीय शब्द भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। फ्रेंच 'एसाइ' या अग्रेजी 'एसे' का अर्थ है, प्रयत्न, प्रयोग अथवा परीक्षण। अर्थात् अभीप्सित विषय के प्रतिपादन या परीक्षण का प्रयत्न। यूरोप मे निबध के जन्मदाता मोन्तेन (Montaigne) ने इस शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग किया था। हिन्दी मे निबध (नि+बध+घम्) का अर्थ बाँधना, सग्रह आदि है। अर्थात् किसी विषय को बाधना। इस बाधने मे तारतम्य और सगठन दोनो सम्मिलित हैं। इस प्रकार भारतीय दृष्टि से निबध उस गद्यरचना को कहा जाता है, जिसमे विचारो या विषय का तारतम्यपूर्ण संगठन हो। निबध के बधाव मे कसाव उसके छोटेपन का बोध कराता है। निबध गद्य की छोटी रचना है। [१०]

किन्तु मोन्तेन ने अपने निबधो मे क्रमबद्धता या तारतम्यपूर्ण सगठन का कोई ध्यान नही रखा था। उसने व्यक्तिगत स्वच्छन्द प्रयास को ही 'एसाइ' माना था। प्रसिद्ध अग्रेजी विद्वान बेकन ने भी 'एसे' को 'उच्छिन्न चिन्तन' स्वीकार किया था। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ मे पाश्चात्य विद्वान निबध (Essay) को स्वच्छन्द और अव्यवस्थित व्यक्तिगत रचना मानते थे। इसी कारण डा० जानसन ने अपनी निबध की परिभाषा देते हुए उसे मस्तिष्क का स्वच्छन्द और अव्यवस्थित प्रवाह कहा था—

> ' A loose Sally of Mind, an irregular indigested piece, not a regular and orderly performance "

प्रारम्भ म अग्रेजी निबध का यह अर्थ अवश्य प्रचलित हुआ पर धीरे-धीरे निबधकार क्रमबद्ध तारतम्य और बध की ओर प्रवृत्त हुए और यहा तक कि असम्बद्धता को निबध का दोष माना जाने लगा। उसमे बुद्धितत्त्व का गाभीर्य भी स्वीकार किया गया। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से चाहे भारतीय निबध और अग्रेजी शब्द 'एसे' मे अन्तर रहा हो, पर प्रवृत्ति की दृष्टि से अग्रेजी 'एसे'

हिन्दी 'निबध' का प्राय. समानार्थक हो गया। अग्रेजी शब्दकोष मे 'एसे' के परिवर्तित अर्थ का बोध इस प्रकार कराया गया है—

> "A composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject, originally implying want of finish, "an irregular indigested piece," but *now* said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range"
>
> (Oxford Dictionary)
>
> अर्थात्, 'सीमित आकार की ऐसी रचना जो किसी एक विषय-विशेष अथवा उसकी किसी शाखा पर लिखी गई हो, जिसे आरम्भ मे परिष्कारहीन, अनियमित, अपरिपक्व खण्ड माना जाता था किन्तु अब जिससे न्यूनाधिक विशद शैली मे रचित लघु आकार की सम्बद्ध रचना का बोध होता है।'

इससे स्पष्ट है कि जानसन की परिभाषा को अब आरम्भिक माना जाता है और 'एसे' एक व्यवस्थित रचना (Composition) बन गया है जिसमे शैली की विशदता का महत्त्व स्वीकृत है। वास्तव मे अग्रेजी मे जो अर्थ 'कम्पोजीशन' शब्द प्रकट करता है, *हिन्दी मे वही अर्थ निबध शब्द देता है।*

मोन्तेन ने अपने निबधो मे निजीपन पर जोर देते हुए कहा था कि मेरे ये निबध आत्माभिव्यक्ति के प्रयत्न हैं—

> "These essays are an attempt to communicate a soul······ I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly"

निबध-सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य दोनो अभिमत उसमे लेखक के व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार करते हैं। वैसे तो सभी प्रकार की साहित्य-विधाओ मे साहित्यकार का व्यक्तित्व किसी-न किसी रूप मे विद्यमान रहता ही है, पर निबधों मे लेखक का निजीरूप सर्वाधिक मुखर होता है। उसमे उसके निजी विचार, विशिष्ट भाव और निजी शैली की विशेषता रहती है। पाश्चात्य विचारक एङ्गर महोदय इसी से निबध को किसी विषय का *विवेचन मात्र न मानकर,* उसे निबधकार के मस्तिष्क का चित्र, उसके अहम् का प्रकाशन बताते है—

> "The essay, proper or literary essay, is not merely a short analysis of a subject·· but rather a *picture* of writers' mind···His most instinctive feature is the egotistical element"
>
> (Alfred Ainger)

हडसन महोदय ने भी निबंध मे लेखक के व्यक्तित्व पर बल देते हुए कहा है—

"The true essay is essentially personal"

हर्बर्ट रीड महोदय ने निबध के आकार के बारे मे कहा है—'एसे' 3500 से लेकर 5000 शब्दो तक होना चाहिए। 3500 शब्दो से कम मे लिखा हुआ निबंध रूपरेखा-सा हो जाता है और 5000 शब्दो से अधिक मे लिखा निबध एक प्रबध बन जाता है।"

निबध के आकार के बारे मे शब्दो की सख्या का इस प्रकार कोई निश्चित बधन तो नहीं लगाया जा सकता, हा इससे यह स्पष्ट है कि निबध छोटे आकार की व्यवस्थित एव स्वत पूर्ण रचना होती है।

भारतीय विचारको मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबध को व्यवस्थित एव मर्यादित विचार-प्रधान गद्य, रचना माना है, जिसमे शैली की विशिष्टता और लेखक के निजी चिंतन और अनुभव की विशेषता के कारण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी रहती है। शुक्ल जी ने निबध के व्यवस्थित बध पर जोर देते हुए कहा—"आधुनिक पाश्चात्य लेखको के अनुसार निबध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलव नही कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृखला रखी ही न जाय या जानबूझकर जगह जगह से तोड दी जाय, भावो की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालो की सी कसरतें या हठयोगियो के से आसन कराए जाएं जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय और कुछ न हो।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 559)

डा० जयनाथ नलिन ने निबध की यह परिभाषा दी है—'निबध स्वाधीन चिंतन और निश्चित अनुभूतियो का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।" (हिन्दी निबन्धकार)

बाबू गुलाबराय ने निबध की विशेषताओ का समाहार करते हुए इससे अधिक व्यापक यह परिभाषा दी है—"निबध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और सबद्धता के साथ किया गया हो।" (काव्य के रूप)

उपर्युक्त परिभाषाओ तथा स्वरूप-विवेचन से निबध की विभिन्न सामान्य विशेषताए प्रकाश मे आई हैं—

1 निबध एक गद्य रचना है। यद्यपि पोप आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानो

के पद्यबद्ध 'एसे' भी प्रसिद्ध हैं, पर वस्तुत निबध गद्य साहित्य-विधा है ।

2. निबध आकार मे छोटी गद्य रचना है। वह इतना बडा नही हो सकता कि प्रबन्ध बन जाए और न इतना अधूरा और छोटा हो सकता है कि रूपरेखा मात्र कहलाये ।
3. निबध किसी एक विषय पर क्रमबद्ध रचना है । उसमे विषय की एकता और मर्यादा आवश्यक है, तारतम्य अनिवार्य है। वह स्वतः पूर्ण सगठित एव नियमित रचना है। उसमे विषयातर या विश्रृखलता दोष माने जाते हैं ।
4. निबध मे लेखक का व्यक्तित्व सजीव रूप में रहता है। वह जो कुछ लिखता है, उसमे उसका निजी दृष्टिकोण, निजी अभिमत, उसकी अपनी अनुभूतियाँ तथा उसकी निजी भाषा-शैली रहती है ।
5. यद्यपि निबध भाव-प्रधान भी होते हैं, पर साहित्य की सभी विधाओ मे निबध सर्वाधिक बुद्धि-प्रधान या विचारोत्तेजक रचना होती है। पाठक की बुद्धि उत्तेजित करने का निबन्ध ही सब से महत्त्वपूर्ण साधन है ।
6. निबन्ध मे निबधकार की भावानुभूतियो की भावरस-धारा या उसकी शैली की रोचकता ही उसे साहित्य की विधा बनाती है। इनके अभाव मे निबध नीरस लेख ही रह जाता है ।

उपर्युक्त लक्षणो का समाहार करते हुए हम निबध की यह परिभाषा दे सकते हैं—**निबध किसी एक विषय पर ऐसी नियमित सीमित आकार की किन्तु सुगठित स्वत पूर्ण गद्य-रचना है जिसमे लेखक के निजी विचारो-भावों की बुद्धिप्रेरक याजना और सरस प्रभावी निजी शैली के कारण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा रहती है।**

निबध, लेख और प्रबध मे अन्तर

शब्दार्थ की दृष्टि से तो निबध और प्रबन्ध (Treatise) मे विशेष अन्तर नही है, और 'लेख' (Article) के शब्दार्थ की दृष्टि से निबन्ध और प्रबन्ध भी लेख ही हैं, किन्तु विषय और रूप रचना की दृष्टि से तीनो मे भेद है। सम्बद्ध विचार-परम्परा तथा विषय-विवेचन वाली व्यापक रचना को प्रबन्ध कहते हैं, तथा व्यक्ति-प्रधान, सक्षिप्त, स्वतन्त्र रचना निबन्ध कहलाती है। प्रबन्ध मे किसी एक बड़े विषय के अनेक पहलुओ का विवेचन होता है उसमे विषय के अनेक पहलू अलग-अलग निबन्ध हो सकते हैं (यदि व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा, शैली की

सरसता आदि निबन्ध के गुण विद्यमान हों) जैसे शुक्ल जी की 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक प्रबन्ध है, और उसके 'तुलसी की भावुकता', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि परिच्छेद अलग-अलग निबन्ध भी माने जा सकते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध का क्षेत्र और आकार निबंध से बहुत व्यापक होता है। प्रबन्ध के अलग-अलग अध्यायों को तभी निबंध की सज्ञा दी जा सकती है जबकि उनका स्वतन्त्र रूप अपने मे पूर्ण हो और निबन्ध के उनमे साहित्यिक गुण हों।

'लेख' या तो स्थायी विषयो पर शास्त्रीय ढग से लिखे गये छोटे आकार के गद्य-बध होते हैं या समाचार-पत्रो के सम्पादकीय आदि के रूप मे सामयिक विषयों पर लिखे जाते है। लेख प्राय व्यक्तित्वहीन बौद्धिक रचना होती है। दोनों मे लेखक के व्यक्तित्व की निहिति का अन्तर रहता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' मे लेख की यह परिभाषा दी गई है—"लेख मूल अर्थ मे समस्त लिखी सामग्री के लिए आता है, किन्तु वास्तव मे यह उस गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसमे लेखक प्रमुखतया निर्वैयक्तिक ढग से किसी विषय पर शास्त्रीय ढग से प्रकाश डालता है। इसे अंग्रेजी का 'आर्टिकल' कह सकते हैं।" (हिन्दी साहित्य कोश, पृ० 408)

प्रबन्ध के खण्डो म भी यदि व्यक्तित्व और साहित्यिक शैली का अभाव होगा तो वे निबध की बजाय लेख ही माने जायेंगे। शुक्ल जी की 'तुलसी ग्रन्थावली', 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिकाएँ प्रबध हैं। प्रबन्धो के कुछ खण्ड अथवा अध्याय अपने मे पूर्ण होने तथा व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के कारण निबधो मे गिने जा सकते हैं, जैसे 'मानस की धर्मभूमि', 'पद्मावत् की प्रेमपद्धति', 'जायसी का रहस्यवाद' आदि। किन्तु कुछ अश केवल लेख ही माने जायेंगे, जैसे 'जायसी की भाषा' आदि।

निबंध का महत्त्व

साहित्य की अन्य विधाओं—उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की भाँति निबध जीवन की व्याख्या भी करता है, किन्तु व्याख्या के साथ-साथ उसकी विशेषता जीवन के निर्माण तथा उन्नयन की दृष्टि से अन्य विधाओ की अपेक्षा शायद अधिक है। जीवन की व्याख्या उपन्यास आदि अन्य विधाओ-जैसी विस्तारपूर्वक निबध मे चाहे सम्भव न हो किन्तु जीवन-निर्माण की दृष्टि से उसका महत्त्व सबसे बढकर है। चिंतन-मनन से युक्त समाज के तत्त्व, जीवन की ठोस समस्याओ और गभीर उलझनो का हल सबसे अधिक निबध में ही सभव है। निबध साहित्य ही किसी जाति के मस्तिष्क का कोश होता है। अंग्रेजी साहित्य अपने समृद्ध निबध साहित्य के कारण ही सर्वाधिक सम्मान पा सका है। निबध मे विचार-

तत्त्व सर्वाधिक रहता है। ससार की किसी भाषा के साहित्य को ले लीजिए, उसकी उच्चता, प्रौढ़ता और श्रेष्ठता का आधार उसका उच्च एव प्रौढ निबन्ध साहित्य ही बनता है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो आलोचक अपने आलोचनात्मक निबन्धो द्वारा ही कलाकृतियो के महत्त्व को आकता और साहित्य के सृजन मे सहायता देता है। इस प्रकार आलोचनात्मक निबन्ध साहित्य ही सम्पूर्ण साहित्य की वृद्धि और विकास का कारण बनता है। इस दृष्टि से भी निबन्ध का महत्त्व सर्वोपरि है।

न-केवल साहित्य और साहित्यकारो की महत्ता के लिए, अपितु भाषा की अभिव्यजना शक्ति के चरम विकास की दृष्टि से भी निबध ही साहित्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप है। गद्य को कवियो की कसौटी चाहे माना जाय या नही, निबध निश्चित ही गद्य की कसौटी है। शुक्ल जी ने उसे गद्य की कसौटी कहा है और भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबधो मे ही सर्वाधिक सभव माना है। निबधो से ही भाषा की शिथिलता और अयोग्यता दूर होती है और उसमे अभिव्यक्ति की स्पष्टता, जोर और शुद्धता तथा शब्दावली की व्यापकता आती है। निबध में विषयो की अनेकरूपता तथा भाषा-लाघव के कारण शब्दावली मे पारिभाषिक परिपक्वता तथा अर्थगत सूक्ष्मता के साथ-साथ शब्दभण्डार की वृद्धि होती है। जिस भाषा मे निबध साहित्य की जितनी विविधता और प्रचुरता होगी, उसकी सर्वांगीण क्षमता उतनी ही अधिक मानी जाएगी।

गद्य की विविध शैलियो का समुचित विकास निबधो मे ही सभव होता है। गद्य-लेखक की निजी शैली का चरम विकास निबध मे ही सब से अधिक होता है। 'शैली ही व्यक्ति है—("Style is the man himself"—बफन) की उक्ति निबध में ही सबसे अधिक घटती है। इस प्रकार साहित्य की सभी विधाओ मे निबध का अपना विशेष स्थान और महत्त्व है।

निबंध और अन्य साहित्य-विधाएँ

कथात्मक निबंध और कहानी—निबध सीमित आकार की गद्य रचना होते हुए भी उसमें प्रबध का-सा तारतम्य रहता है, उसमे मुक्तक की-सी स्फुटता और स्वत पूर्णता रहती है, और कहानी की-सी क्षिप्रगति और एकध्येयता विद्यमान रहती है। निबध के कथात्मक रूप अर्थात् कथात्मक निबध (Narrative essay) का कहानी से बहुत साम्य है। कई बार तो दोनो मे भेद करना कठिन हो जाता है। आकार दोनो का लघु होता है, दोनो मे कथा-शैली का प्रयोग रहता

है। दोनो ही एक निश्चित विषय या लक्ष्य को लेकर लिखे जाते हैं। पर दोनो मे अन्तर यही है कि जहाँ कहानी मे कथा और घटना का अर्थात् गत्यात्मक काल-चक्र का अकुंठित प्रवाह रहता है, वहाँ निबंध मे विमर्श का ठहराव आवश्यक है। कथात्मक निबंधो मे भी कथा शैली के साथ-साथ निबंध की विचारोत्तेजक विवेचन, विश्लेषण या व्याख्या शैली, कथा के साथ विचार और भाव-वर्णन तथा कालगति का ठहराव अवश्य होता है। जिन कथात्मक निबंधो मे ठहराव—चिंतन, विमर्श या निरीक्षण नही होता और कथा की अबाध गति होती है, उन्हे निबंध के स्थान पर कहानी ही मानना चाहिये। महादेवी वर्मा के संस्मरणो, रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्द चित्रो तथा सियारामशरण गुप्त के 'झूठ सच' मे सकलित लेखो मे से किसे कथात्मक-संस्मरणात्मक निबंध कहा जाय, किसे संस्मरणात्मक कहानी और किसे रेखाचित्र या शब्द चित्र ?—यह प्रश्न बहुत उठता है।

महादेवी के संस्मरणो मे से दो का उदाहरण देकर हम यह अन्तर स्पष्ट करते हैं। महादेवी का 'चीनी भाई' संस्मरण पढिए और साथ ही पढिये उनका 'लछमा' संस्मरण। पहले मे कथा का अकुंठित प्रवाह है, पर दूसरे मे महादेवी का निबंधकार साथ-साथ अपना चिंतन, मनन, अनुभव प्रकट करता चला है, जिससे कथाश निर्बाध नही रहा है, कथा छिन्न-भिन्न हो गई है, उसकी गति मथर और मद पड गई है। 'चीनी भाई' मे चीनी की कहानी द्रुत गति से चरम पर पहुँचकर समाप्त हो गई है, पर 'लछमा' मे कथा विशेष या प्रमुख है ही नहीं। उसमे स्वभाव और परिस्थितियो के स्थिर चित्र है। 'चीनी भाई' मे कालगति है तो 'लछमा' म ठहराव है, स्थिर चित्र है। एक मे विवरण (Narration) अधिक है, दूसरे मे वर्णन (Description)। अत जहाँ मैं 'चीनी भाई' को कहनी मानता हूँ, वहाँ 'लछमा' को संस्मरणात्मक निबंध। इसी प्रकार उनके 'घीसा' को भी कहानी मानना अनुचित है।

रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्द चित्रो के रूप विधा के अन्तर को जानने के लिए भी यही कसौटी होनी चाहिए। उनके 'माटी की मूरतें' के 'रूपा की आजी' आदि संस्मरणात्मक शब्द-चित्र कहानी ही हैं। किन्तु उनके 'लाल तारा' के शब्द-चित्र न कहानी हैं, न निबंध, शब्द-चित्र ही हैं क्योकि न उनमे कथा का अकुंठित प्रवाह है, न निबंध का-सा विषय-प्रतिपादन।

रेखाचित्र या शब्द-चित्र और निबंध—रेखाचित्र और निबंध का भी अद्‌भुत साम्य है। दोनो स्वतन्त्र विधाएँ हैं। किन्तु रेखा चित्रकार यदि अपने लक्ष्य से थोडा-सा भी भटक गया तो उसकी रचना रेखाचित्र के स्थान पर निबंध ही बन जाती है। रेखा-चित्रकार का लक्ष्य है व्यक्ति या वस्तु विशेष। उसके बाह्य-

अन्तर का ही मोटी-मोटी शब्द-रेखाओ से चित्रण करना उसका उद्देश्य रहना चाहिये। रेखाचित्र मे वस्तुगत चित्रण की प्रधानता रहती है। इसमे लेखक का व्यक्तित्व अत्यन्त गौण होता है जबकि निबंध मे विषय-पक्ष और व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। चरितात्मक निबंधो मे भी चरितनायक के साथ साथ लेखक का व्यक्तित्व उभरा रहता है, और शैली वैसी चित्रात्मक नही होती जैसी रेखाचित्र मे अपनाई जाती है। यही इन दोनों मे सूक्ष्म अन्तर है, अन्यथा कला-लाघव, लघु आकार, एकसूत्रता आदि तत्त्व समान होते हैं।

निबंध-रूप मे रचित साहित्य-समालोचना भी निबंध कोटि मे आती है। अंग्रेजी के मेथ्यू आर्नल्ड, हैजलिट, हट आदि तथा हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि अनेक समालोचकों ने आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं। इस दृष्टि से आलोचना और निबंध का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भावात्मक निबंध और गद्यगीत मे भी समानता है। गद्यगीत मे कोई एक भाव ही संक्षिप्तता से प्रकट किया जाता है, जबकि निबंध अपेक्षाकृत बड़े आकार को, अपेक्षाकृत विस्तृत भाव-विषय-बोध की रचना है। गद्यगीत मे कविता की सांकेतिक शैली रहती है, निबंध मे स्पष्ट शैली। यही इनमे अन्तर है। गद्यगीत मे एक ही भाव गहनता और तीव्रता के साथ प्रकट किया जाता है, जबकि भावात्मक निबंध म भावों का विस्तार होता है और एक भाव की वैसी सघनता और सकुलता नही होती।

निबन्ध के तत्त्व

निबंध के उपर्युक्त स्वरूप-विवेचन तथा अन्य विधाओं से उसके अन्तर के स्पष्टीकरण से निबंध के तत्त्व स्पष्ट हो गए होंगे। यहाँ निबंध के तत्त्वों का पुन. आख्यान किया जाता है। निबंध के मुख्य तत्त्व ये हैं—

1. किसी एक विषय का सीमित प्रतिपादन। (उद्देश्य)
2. विषय-प्रतिपादन मे निजी दृष्टिकोण (वैयक्तिक प्रयास)।
3. विचार-तत्त्व।
4. निजी विचार-तत्त्व की तरह निजी भावानुभूति (भावरसानुभूति)।
5. सीमित लघु आकार मे निश्चित बंधन (संगठन या निश्चित रचना)।
6. भाषा शैली की विशिष्टता (वैयक्तिक शैली)।
7. भाव-विषयानुरूप सरल, सरस साहित्यिक शैली-प्रयोग (साहित्यिक शैली)।

1. विषय या उद्देश्य—निबंध किसी एक विषय या विषय-खण्ड पर लिखा जाता है। निबंधकार सामाजिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक, वस्तु-प्रकृति-वर्णन, चरित्र-वर्णन, संस्मरण, भाव-वर्णन, घटना-वर्णन आदि किसी भी एक विषय को अपना सकता है। पर उस विषय की एक निश्चित सीमित रूपरेखा ही उसके मन मे उत्पन्न होनी चाहिए। न तो वह अपने विषय का इतना विस्तार कर सकता है कि वह प्रबंध बन जाय, न उसे इतना अधूरा रख सकता है कि वह लघु रूपरेखा (Synopsis) या 'दो शब्द' ही बनकर रह जाय।

2 निजी दृष्टिकोण या व्यक्तिगत प्रयास—अपने जन्मकाल से ही निबंध यह तत्त्व लेकर अविर्भूत हुआ था। वस्तुत यह निजीपन ही निबंध की मूल प्रेरणा है। किसी नूतन विचार अथवा नव दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की प्रबल आकांक्षा ही निबंधकार का निबंध रचने मे प्रवृत्ति करती है। निबंध का मेरुदण्ड है निबंधकार का व्यक्तित्व और इस व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा का आरम्भ इस निजी दृष्टिकोण से ही होता है। निजी दृष्टिकोण से विषय का प्रतिपादन, निजी विचार, निजी भावानुभूतियाँ और निजी भाषा-शैली के रूप मे वह व्यक्तित्व प्रसार करता है। केवल विषय को अपना लेने से कुछ नही होता, जब तक उस विषय के सम्बन्ध मे निजी दृष्टिकोण नही, कुछ अपना, अपने ढग पर कहने को नही है, तो निबंध नही बन सकता, कोई लेख या अन्य निर्वैयक्तिक रचना भले ही लिखी जा सके। सम्पूर्ण निबंध की पृष्ठभूमि म लेखक का निजी व्यक्तित्व—उसका अपना दृष्टिकोण मुखर होना चाहिये।

3 विचार तत्त्व—विचार या बुद्धि-तत्त्व निबंध क्या साहित्य का सामान्य तत्त्व है। साहित्य की सभी विधाओं मे निबंध म बुद्धितत्त्व सर्वाधिक रहता है। विचारात्मक निबंधो मे तो इसकी प्रमुखता, रहती ही है, अन्य प्रकार के निबंधो मे भी विचारो का कुछ-न-कुछ प्रतिपादन रहता ही है। विचारात्मक निबंधो मे तो विचारो की "गूढ गुफित परम्परा" होनी चाहिए। विचारो की ऐसी सघटित नियोजना होनी चाहिये कि हर विचार दूसरे विचार का वहन करने वाला हो। विचार श्रृंखलाबद्ध होने चाहियें, विषयान्तर नही होना चाहिये। विचारो की श्रृखला नही टूटनी चाहिये।

विचार-तत्त्व के साथ मौलिकता का प्रश्न भी लगा है। मौलिकता साहित्य का ही एक अनिवार्य प्रश्न है। मौलिकता के बारे मे यह बात नही कि लेखक बिल्कुल ऐसे विचार गढे जो कही सुने गुने ही न गए हो, प्रत्युत् इससे यही अभिप्राय है कि विचारो के विवेचन तथा उनकी अर्थ-सम्बन्ध सूत्र योजना का उसका मौलिक प्रयास होना चाहिये। नये-नये विचारों की ऐसी गम्भीर उद्भावना

होनी चाहिये जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड पडे। अत विचरो की मौलिकता से यही मतलब है कि लेखक के अपने अत प्रयास से निकली हुई विचारधारा निबधो मे प्रकट होनी चाहिये। विचारो के प्रतिपादन मे किसी की नकल नही होनी चाहिये, वह लेखक का स्वाधीन चितन हो।

उदात्त विचारों से ही उदात्त और महान् निबध निर्मित होता है। निबध 'बातो के सग्रह' मात्र नही होने चाहियें। जीवन की स्थायी महत्त्व की व्यापक समस्याओ पर स्थायी और उदात्त विचारों का प्रकाशन ही लेखक को महान् बनाता है। सामयिक समस्याओं को यदि शाश्वत रूप प्रदान करके निबध मे अपनाया जाएगा तभी वे स्थायी साहित्य का अग बन सकेंगे।

4 भावतत्त्व—विचार तत्त्व के साथ निबध मे भावतत्त्व का भी महत्त्व है। यह साहित्य का मूल अनिवार्य तत्त्व है। अत निबध भी इसके अभाव मे साहित्य-विधा नही बन सकता। विषय-प्रधान विचारात्मक निबधो मे तो भाव-तत्त्व और भी आवश्यक हो जाता है। निबध लेखक की बौद्धिक यात्रा का प्रदेश-मात्र नही होना चाहिये। विचारात्मक निबधकार का भी कौशल इसी बात मे ही है कि वह विचार-सूत्रो के बीच-बीच मे अपनी व्यक्तिगत रुचियो-अरुचियो, भावनाओ और जीवन तथा जगत् के प्रति अपनी रागात्मक प्रतिक्रियाओ को इस प्रकार व्यक्त करता चले कि जिससे पाठक का मन उदात्त भावरस मे आनन्द ले और लेखक के भी व्यक्तित्व (The man is the book) का पूर्ण आभास हम पा जाएँ।

उच्च कोटि के विचारात्मक निबधकार मे भी विषय के विश्लेषण और प्रतिपादन मे वैज्ञानिक की-सी यथार्थता, सूक्ष्मता और तार्किकता तथा तत्त्व-चिंतक की गभीरता के साथ-साथ भावो को प्रेषित करने के लिये अनुकूल प्रसग और वातावरण उत्पन्न करने, सवेदना लाने और व्यक्तित्व की व्यजना करने मे साहित्यिक की पूरी सहृदयता भी होनी चाहिये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तत्त्व चितक या वैज्ञानिक से निबधलेखक की भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "तत्त्व-चितक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धातो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध सूत्रो को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरो मे कही नही फँसता। पर निबध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर छूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता चलता है। × × × × निबधलेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनो लिए हुए।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 506)।

निबंध में उसके लघु आकार के कारण भाव सीमित ही हो सकते हैं, उपन्यास नाटक जैसा भाव विस्तार उसमें संभव नहीं, पर भाव-गांभीर्य और भावउदात्तता की उसमें जितनी विशेषता होगी, उतना ही वह निबंध महान् होगा। अत मानवीय उदात्त भावों की रसानुभूति निबंध का अनिवार्य गुण है। इसी से निबंध में सरसता आती है, रुक्षता नहीं आने पाती। इससे निबंध में निजी भावानुभूति के रूप में लेखक के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी सम्भव होती है।

5. **निश्चित और सुयोजित बंध**—लघु आकार में निबंध की निश्चित रचना होती है। इसी सुयोजना से निबंध में एकसूत्रता और एकध्येयता बनी रहती है। इसी से निबंध एक स्वतः पूर्ण रचना बनती है। निबंध में इस गठन या संगठन के तीन तत्त्व हैं जो वस्तुतः निबंध के तीन भाग हैं—

1 प्रस्तावना या भूमिका, 2 विषय-प्रतिपादन और 3 उपसंहार।

1 प्रस्तावना के आरंभिक एक या दो पैरों में निबंधकार आकर्षक शैली में विषय प्रवेश करता है। वह विषय की प्रभावी भूमिका प्रस्तुत करता है। यह ऐसी होनी चाहिए कि आरंभ से ही पाठक निबंध पढ़ने को आकर्षित हो जाय। किन्तु यह आवश्यक है कि यह भूमिका निबंध के विषय से ही सम्बद्ध होनी चाहिये। निबंध का यह गठन विषय-केन्द्रित ही है। अत विषय से अलग किसी बात के लिए निबंध के किसी भी भाग में कोई गुंजाइश नहीं होती।

2 **विषय-प्रतिपादन**—प्रस्तावना या भूमिका के एक या दो अनुच्छेदों के बाद निबंधकार को छोटे-छोटे अनुच्छेदों में अपने विषय का प्रतिपादन करना चाहिये। यह निबंध का प्रमुख भाग—निबंध की बॉडी (Body) है। निबंधकार की सफलता इसी पर निर्भर करती है। इस भाग की रचना के लिए लेखक को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

क विषय-सम्बन्धी विविध विचारों को अलग-अलग अनुच्छेदों में प्रकट करना चाहिए।

ख विषय-सम्बन्धी सभी आवश्यक ज्ञातव्य बातें प्रकाशित करनी चाहियें।

ग क्रम और तारतम्य का ध्यान रखना चाहिये।

घ. आवश्यक तथ्यों का विस्तार।

ङ विषयांतर या अनावश्यक विस्तार से बचना।

च पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिये।

छ. अप्रमाणिक तथ्यों या बातों का बहिष्कार

ज विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण।

3. उपसहार—उपसहार या अत भी निबध का प्रस्तावना की भाँति महत्त्वपूर्ण भाग है। प्रस्तावना मे विषय का सक्षिप्त प्रवेश होता है तो उपसहार के एक अनुच्छेद मे विषय का अत होता है। यह भी प्रस्तावना की तरह विशेष आकर्षक होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे इन तीन बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—अ. यहाँ आकर विषय-सम्बन्धी जिज्ञासा की पूर्ण शाति हो जानी चाहिये। ऐसा अनुभव न हो कि अभी कुछ अधूरा है। ख. विषय का आकर्षक शब्दो मे यहाँ साराश प्रकट होना चाहिए। ग उपसहार निष्कर्षात्मक हो, अर्थात् विषय-प्रतिपादन से जो निष्कर्ष निकाले गए हों, उनका यहा उल्लेख होना चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन अगो मे विभाजित निबध स्वत पूर्ण होता है।

6. भाषा-शैली की विशिष्टता—"शैली व्यक्ति है"—पाश्चात्य विद्वान बफन की यह उक्ति निबध मे पूर्ण चरितार्थ होनी चाहिये। निबधकार अपनी निजी शैली द्वारा भी निबध मे अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करता है। निबध मे शैली की विशिष्टता से ही निबध विशिष्ट बनता है। एक ही विषय पर लिखे गए भिन्न-भिन्न निबन्धकारो के निबन्धो मे वैशिष्ट्य उनकी निजी शैलियो द्वारा ही उत्पन्न होता है। शुक्ल जी के गुरु गम्भीर अध्यापक-व्यक्तित्व की परिचायक उनकी गम्भीर विवेचनात्मक समास शैली उनके निबन्धो मे वैशिष्ट्य लाई है। हास्य-व्यग्य प्रकृति के व्यक्ति अपने निबन्धो मे हास्यव्यग्यपूर्ण विशिष्ट शैली अपनाते है। महादेवी वर्मा के सस्मरणो मे उनकी विशिष्ट शैली पाई जाती है और गुलाबराय जी के वैयक्तिक निबधो में उनकी हास्य-व्यग्यपूर्ण प्रसन्न शैली की विशिष्टता है। इस प्रकार निबन्धकारो की निजी शैलियो की छाप उनके निबधो मे व्यक्तिगत विशेषता उत्पन्न करती है और गद्य की भिन्न-भिन्न शैलियो का निर्माण होता है।

7. साहित्यिक भाषा-शैली—निबध साधारण गद्य की अपेक्षा सरस एव सजीव साहित्यिक गद्य मे रचा जाता है। उसकी भाषा-शैली मे निबन्धकार की साहित्यिक प्रतिभा का प्रकाश होना चाहिये। भाषा-शैली के सभी गुण—सरलता, स्पष्टता, व्यावहारिकता, व्याकरणानुरूपता, परिष्कार, भाव विषयानुरूपता, प्रवाह, कला-लाघव, सुष्ठु वाक्य-विन्यास, भाषा की शक्ति के प्रसाधनों—लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, अलकार, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, उदाहरण-उद्धरण, बिम्ब-प्रतीक-विधान, हास्य-व्यग्य आदि—का यथासभव प्रयोग निबधकार की भाषा मे होना चाहिए। शब्दो की पुनरावृत्ति और क्लिष्टता भाषा के दोष बन जाते हैं। साराश यह कि निबध की भाषा-शैली निर्दोष और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए।

००

3

निबंधो का वर्गीकरण और शुक्ल जी के निबंध

निबध के न विषयो की कोई सीमा है, और न रूप व शैली की। हिन्दी साहित्य मे भी विषय-विस्तार और वर्णन शैली की विभिन्नता की दृष्टि से निबध-साहित्य की प्रगति सतोषजनक रही है। साहित्य के इस अग पर इतना अधिक लिखा गया है कि इसका *विभाजन असभव नही तो एक कठिन कार्य अवश्य है*। फिर भी निबध के रूप-प्रकार और विषय की विविधता को देखते हुए उसे निम्नलिखित भिन्न-भिन्न रूपो मे विभाजित किया जा सकता है—

क विषय को प्रधानता और व्यक्ति की प्रधानता की दृष्टि से—

1. परिबध निबध (Objective Essays) अर्थात् विषय प्रधान निबध।
2. निर्बन्ध निबध (Subjective Essays) अर्थात् विषयी या व्यक्ति-प्रधान निबध।

निबध का यह विभाजन लेखक के व्यक्तित्व अथवा विषय की प्रधानता पर आधारित है। विषय-प्रधान निबधो मे विषय की प्रधानता सर्वत्र रहती है और यद्यपि लेखक का व्यक्तित्व भी निहित होता है, पर स्वय लेखक का ध्यान विषय के मार्मिक प्रतिपादन की ओर ही मुख्य रूप से रहता है। आरभ से अत तक ये निबध किसी एक विषय को ही अपनाये रहते हैं। निर्बन्ध निबध लेखक की मनः स्थिति कुछ स्वच्छन्द रहती है। इस प्रकार की रचना हृदय से उद्भूत होने के कारण मानवीय सवेदनाओ से परिपूर्ण होती है। ऐसे निबधों में लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। इन्हे इसी कारण आत्माभिव्यजक या Subjective निबध कहते हैं। इन निबधो मे बुद्धितत्त्व कम होता है, और साहित्य के अन्य तीनों *तत्त्व—कल्पना, भावना और शैली तत्त्व विषय-प्रधान निबधो की अपेक्षा अधिक* मात्रा मे होते हैं। इनमे विवेक आदि औपचारिक बधन नहीं होते। पाठक लेखक से अधिक सामीप्य का अनुभव करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबध इस दृष्टि से विषय प्रधान निबधो की कोटि म ही आएँगे, यद्यपि उनमे उनका व्यक्तित्व भी गौण नही है। शुक्ल जी के निबधो मे गभीर विषयो का ही प्रतिपादन किया गया है। विषयो की विवेचना और अपने अध्ययन, मनन और चिंतन का निष्कर्ष पाठको के सम्मुख रखने के लिए ही उन्होने ये निबध लिखे हैं। कही-कही उनकी स्वच्छन्द मन स्थिति के

भी हमें दर्शन उनके निबंधों मे हो जाते है, किंतु विषयांतर कही नही होता। उनके मौलिक विचारक, जीवन-द्रष्टा और विशिष्ट शैलीकार का व्यक्तित्व भी उनके निबंधों मे बड़ा स्पष्ट है, सदेह नही, किंतु प्रवृत्ति, उद्देश्य और प्रतिपादन-शैली आदि सभी दृष्टि से उनके ये निबंध हैं विषय-प्रधान ही। इस विषय पर विस्तार-पूर्वक प्रकाश हमने 'शुक्ल जी के निबंधो मे उनका व्यक्तित्व' नामक प्रकरण मे आगे डाला है।

ख रचना-प्रकार और वर्णन-शैली की दृष्टि से निबंधो के अनेक रूप-प्रकार हैं। आकार-प्रकार की भिन्नता की दृष्टि से हिन्दी मे अनेक निबंध मिलते हैं। कुछ निबंध ऐसे होते हैं जो पुस्तकों के अध्याय होते हैं। पुस्तकों की प्रस्तावनाएँ एवं भूमिकाएँ भी इसी प्रकार के निबंधो मे सम्मिलित की जा सकती हैं। शुक्ल जी के कुछ निबंध इन दोनो कोटियो मे आते हैं—'मानस की धर्म-भूमि', 'तुलसी का भक्ति मार्ग' आदि निबंध पहले प्रकार मे हैं, तो डा० रघुवीर सिंह के निबंध सग्रह 'शेष-स्मृतियाँ' (सन् 1939) की शुक्ल जी द्वारा लिखी गई भूमिका दूसरे प्रकार के अन्तर्गत आती है। इस प्रकार के निबन्धो मे आशका इसी बात की रहती है कि कही लेखक का निबंध रूक्ष, बौद्धिक लेख मात्र न बन जाय। लेखक के व्यक्तित्व के अभाव मे ऐसे निबंधों मे निबंध-कला का ह्रास होता है। शुक्ल जी को इस प्रकार के निबंधो मे भी बाबू श्यामसुन्दरदास प्रभृति लेखको से अधिक सफलता मिली है। बाबू जी की पुस्तक 'साहित्यिक लेख' के अधिकाश निबंध इसी प्रकार के हैं और निबंध-कला की दृष्टि से वे शुक्ल जी के उपर्युक्त निबंधों से हल्के ठहरते हैं।

कुछ निबंध भाषण के रूप मे होते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का 'साहित्य की महत्ता' नामक निबंध इसी प्रकार का है। शुक्ल जी के निबंध-सग्रह 'चिंतामणि' भाग 2 का अतिम निबंध 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' भी इसी प्रकार का है। यह निबंध चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर के सभापति-पद से दिया गया भाषण है। भाषण शैली के निबंधो मे पर्याप्त रोचकता की गुजाइश रहती है, किन्तु शुक्ल जी का निबंध एक गभीर शास्त्रीय प्रवचन के अतिरिक्त, रोचकता की दृष्टि से, कुछ भी नही रह गया है। इसपर निबंध-कला की दृष्टि से हम आगे विचार करेंगे।

इसके अतिरिक्त सस्मरणो (मोहन लाल महतो का सग्रह 'आरती के दीप', महादेवी और गुलाब राय आदि के निबंध) के रूप मे भी हिन्दी मे अनेक निबंध लिखे गए हैं। पत्र-शैली—यथा राम नाथ 'सुमन' के 'भाई के पत्र' (1931 ई०), डायरी शैली—यथा घनश्यामदास बिड़ला का 'डायरी के कुछ पन्ने' (1940 ई०), पैम्फलेट और पत्र-पत्रिकाओ के छोटे-छोटे लेख, गोष्ठी-वार्तालाप आदि के

रूप मे—यथा डा० नगेन्द्र का 'हिन्दी-उपन्यास' नामक निबध, प्रतीक अथवा अन्योक्ति पद्धति पर लिखे गए निबध—यथा बालकृष्ण भट्ट का 'विशाल वाटिका' आदि अनेक स्वरूपो मे निबध रचे गए हैं, किन्तु शुक्ल जी ने इस प्रकार का कोई प्रयोग नही किया। शुक्ल जी ने अपने निबधो मे रचना-प्रयोग नही किए। उनकी एक निश्चित सीधी सादी शैली है।

ग **गद्य-शैली और प्रवृत्ति की दृष्टि** से निबधो को मुख्य पाँच भागो मे बाँटा जा सकता है—1. वर्णनात्मक (Descriptive), 2. विवरणात्मक (Narrative), 3. भावात्मक (Emotional), 4. हास्य-व्यग्य प्रधान (Satirical) और 5 विचारात्मक निबध (Reflective Essays)। वास्तव मे यह वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा के लिए ही है। निबधकार किसी एक ही प्रणाली को अपनाने के लिए बाध्य नही है। कई लेखको के निबधो मे मिश्रित शैली का भी प्रयोग पाया जाता है—जैसे प्रो० पूर्णसिह के निबध 'ब्रह्मकांति' मे भावात्मक शैली मे चिन्तनात्मकता भी पाई जाती है, महादेवी के कथात्मक सस्मरणो मे सुन्दर भावात्मक शैली के दर्शन होते हैं। भिन्न-भिन्न रुचि के प्रतिभावान लेखको ने साहित्य के कई रूपो का मिश्रण निबधो मे कर दिया है। किसी-किसी निबध म तो कवित्व, आलोचना, कहानी, नाटकीयता आदि के एक साथ ही दर्शन हो जाते हैं। फिर भी उक्त विभाजन किसी विशेष प्रवृत्ति और शैली की प्रधानता के आधार पर ही किया गया है।

1 **वर्णनात्मक निबध**—इन निबधो मे वस्तु को स्थिर रूप मे देखकर तटस्थ **वर्णन** किया जाता है। यह वर्णन किसी देश, स्थान, पर्वतीय प्रदेश अथवा किसी प्राकृतिक दृश्य का होता है। हिन्दी साहित्य मे स्वामी सत्यदेव, राहुल सांकृत्यायन आदि के भ्रमण-यात्रा सम्बन्धी लेख तथा श्रीराम शर्मा के शिकार-सम्बन्धी निबध इसी कोटि मे आते हैं। इन निबधो की शैली मुख्य रूप से वर्णनात्मक (descriptive) रहती है, जिसमे रोचकतापूर्ण यथातथ्य चित्रात्मक दृश्य-विधान लेखक की सफलता का परिचायक होता है।

2 **विवरणात्मक निबधों** मे कथात्मक शैली अपनाई जाती है। इनका अधिकाश सम्बन्ध काल से होता है। इनमे कहानी की सी रजकता पाई जाती है। इन निबधो के सम्बन्ध मे एक कठिनाई यह आ उपस्थित होती है, कि इनमे से कई निबधो मे कथा के तत्त्व इतने स्पष्ट हो जाते हैं कि यह निर्णय नही हो पाता कि इन्हे कहानी-साहित्य मे गिनें या निबध-साहित्य मे। सियारामशरण गुप्त के 'झूठ सच' आदि निबध ऐसे ही हैं। सस्मरणो और आत्मकथाओ में लिखे गए निबध हिन्दी क सुन्दर विवरणात्मक निबध हैं। महादेवी के सस्मरण, काका गाडगिल

के 'खटबुने की पुकार' आदि निबंध उल्लेखनीय हैं। कुछ निबध स्वप्नो या दिवा स्वप्नो की कहानी के रूप मे भी लिखे गए हैं।

3 भावात्मक निबधों म भावुकता का प्राधान्य होता है। हिन्दी मे ऐसे अनेको निबध लिखे गए हैं। प्रो० पूर्णसिंह और डा० रघुवीरसिंह के निबध इस कोटि के सुन्दर उदाहरण हैं। भावात्मक निबधो में, विचारात्मक निबधो के विपरीत, बुद्धि हृदय की अनुगामिनी रहती है। सक्षिप्त शैली मे अत्यन्त कवित्व-पूर्ण ढग से लिखे गए ये निबध गद्य-गीत की सज्ञा पाते हैं।

4 हास्य व्यग्यात्मक निबध भी हिन्दी मे अब कुछ लिखे जा रहे हैं। इनमे व्यग्यात्मक शैली मे समाज और व्यक्ति की कमियों और बुराइयो का पर्दाफाश किया जाता है। इनमे व्यग्य सामाजिक भी होता है, धार्मिक भी और राजनीतिक भी। इन्द्रशकर मिश्र का 'चिकोटी' (1946 ई०), श्री वियागी हरि का 'पगली' आदि सग्रह इसी कोटि के हैं। इस सम्बन्ध मे श्री प्रभाकर माचवे, हरिशकर परसाई और नामवर सिंह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। माचवे जी के 'खरगोश के सीग' नामक सग्रह म इस कोटि के श्रेष्ठ निबध हैं।

5 विचारात्मक या चिन्तनात्मक निबधों म लेखक के विचारो का तथा विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक, गवेषणात्मक अथवा तर्क-प्रधान शैली का प्राधान्य रहता है। इन निबधो म शब्द प्रयोग की दृष्टि से दो शैलियाँ और होती हैं—व्यास शैली जैसे महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के निबधो म और दूसरी समास शैली जैसे शुक्ल जी के निबधो मे। जैसा कि पीछे लिख आए हैं, हिन्दी म कुछ ढग के विचारात्मक निबधो का प्रवर्तन महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा हो चुका था, किंतु उनकी शैली निर्वैयक्तिक शैली ही रही। शुक्ल जी ने ही सर्वप्रथम सरस, गभीर, वैयक्तिकता से पूर्ण विचारात्मक निबधो का आदर्श प्रस्तुत किया।

कहने की आवश्यकता नही कि निबध को उपर्युक्त कोटियो म शुक्ल जी के निबध केवल विचारात्मक कोटि के ही है। यद्यपि उनके विचारात्मक निबधा मे यथा प्रसग कही कही वर्णनात्मक, कथात्मक, भावात्मक, हास्य-व्यग्यात्मक आदि सभी शैलियो के दर्शन होते हैं, किंतु मुख्य रूप से उन्होने अपने गभीर विषय-प्रधान विचारात्मक निबधो मे विचारात्मक निबधो की विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक समास-शैली का ही प्रयोग किया है। हास्य-व्यग्यपूर्ण शैली के सशक्त प्रयोग से आभासित होता है कि उनमें व्यग्यात्मक निबध लिखने की भी अद्भुत क्षमता थी, पर उन्होने ऐसे निबध लिखने का उद्देश्य नही रखा। उनके निबध विचारात्मक निबधो का चरमोत्कर्ष उपस्थित करते हैं। इस विषय पर

विस्तार के साथ हमने अगले प्रकरण मे प्रकाश डाला है। हिन्दी के विचारात्मक निबंधकारो मे शुक्ल जी के विशिष्ट स्थान की स्थापना भी आगे की है।

घ. विषय की दृष्टि से निबंधों का वर्गीकरण अत्यन्त कठिन है। निबंध के विषयो की कोई सीमा ही नहीं। अनेक प्रकार के साहित्य-समालोचना, पुरातत्त्व, इतिहास, पुराण, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यापार, शिक्षा, जीवन-चरित, संस्कृति, त्यौहार-पर्व, भाषा-लिपि, प्राकृतिक दृश्य, यात्रा-भ्रमण आदि अनेक विषयो पर निबंध लिखे गए है। अकेले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अनेक प्रकार के लेख लिखे हैं। इस दृष्टि से शुक्ल जी के निबंधो का विषय-विस्तार अत्यल्प है। उन्होने केवल साहित्यिक विषयो पर ही निबंध लिखे है; हाँ, इस क्षेत्र मे उन्होने अवश्य अपनी पूर्ण पैठ का परिचय दिया है। शुक्ल जी के आरंभिक निबंधो—'साहित्य', 'प्राचीन भारतीयो का पहरावा' तथा 'मित्रता' में अंतिम दो समाज और संस्कृति से सम्बन्धित हैं, किन्तु आगे चलकर उन्होने इस प्रकार के सांस्कृतिक विषयों पर लेखनी नही चलाई। उनके मनोभावो-सम्बन्धी 10 निबंधों के अतिरिक्त शेष सब निबंध साहित्य-समालोचना से सम्बन्धित हैं। एक तरह से उनके मनोभावो पर लिखे गए निबंध भी साहित्यिक कोटि मे ही आते है, क्योंकि इनमे विषय का प्रतिपादन काव्य से सम्बद्ध है। उनके आलोचनात्मक निबंध भी दो प्रकार के हैं—1 सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्धित, जैसे चिंतामणि भाग 2 के निबंध तथा चिंतामणि भाग 1 के 'कविता क्या है ?,' 'काव्य मे लोक-मंगल की साधनावस्था,' 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप'; दूसरे, व्यावहारिक आलोचना के निबंध—जैसे चिंतामणि भाग 1 मे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'मानस की धर्म-भूमि' और 'तुलसी का भक्ति मार्ग' नामक निबंध तथा 'त्रिवेणी' संग्रह मे सूर, तुलसी और जायसी पर आलोचनात्मक निबंध।

ड. निबंध, लेख और प्रबंध (Essay, Article and Treatise) शब्दार्थ की दृष्टि से तो निबंध और प्रबंध मे विशेष अंतर नही है, और 'लेख' के शब्दार्थ की दृष्टि से निबंध और प्रबंध भी 'लेख' ही हैं, किंतु विषय और रूप-रचना की दृष्टि से तीनों मे भेद है। सम्बद्ध विचार तथा विषय वाली व्यापक रचना को प्रबंध कहते हैं, तथा व्यक्ति-प्रधान, संक्षिप्त, स्वतंत्र रचना निबंध कहलाती है। प्रबंध मे किसी एक बडे विषय के अनेक पहलुओ का विवेचन होता है। उसमे विषय के अनेक पक्ष अलग-अलग निबंध हो सकते हैं, यदि वे अपने में पूर्ण हो या थोडा संशोधन करके अलग निबंध रूप मे प्रस्तुत कर दिए जायें—जैसे शुक्ल जी की गोस्वामी तुलसीदास पर की गई आलोचना मे 'तुलसी की भावुकता', 'मानस

की धर्म-भूमि' आदि अलग-अलग निबंध भी माने जा सकते हैं। इस प्रकार प्रबंध का क्षेत्र निबंध से बहुत व्यापक होता है। प्रबंध के अलग-अलग अध्यायों को सभी निबंध की संज्ञा दी जा सकती है जबकि उनका स्वतंत्र रूप अपने मे पूर्ण हो। 'लेख' या तो स्थायी विषयो पर शास्त्रीय ढंग से लिखे जाते हैं, या समाचारपत्रो के सम्पादकीय आदि के रूप मे सामयिक विषयों पर निकाले जाते हैं। इस प्रकार लेख मे और निबंध मे लेखक के व्यक्तित्व की निहिति का अंतर होता है। प्रबंध के खण्ड विषयो मे भी यदि व्यक्तित्व का अभाव होगा, तो वे निबंध की बजाय लेख ही माने जायेंगे। शुक्ल जी के समस्त निबंध-साहित्य मे 'तुलसी ग्रंथावली', 'जायसी ग्रंथावली' आदि की आलोचनात्मक भूमिकायें प्रबंध हैं। इन प्रबंधो के भी कुछ खण्ड-विषय अथवा अध्याय अपने मे पूर्ण होने के कारण निबंधो मे गिने जा सकते हैं—जैसे 'मानस की धर्मभूमि', 'पद्मावत की प्रेम-पद्धति,' 'जायसी का रहस्यवाद' आदि, कुछ अंश केवल लेख मात्र माने जायेंगे—जैसे 'जायसी की भाषा' आदि। इस प्रकार विचारात्मक निबंधो के अन्तर्गत प्रबंध और लेख रूप मे भी शुक्ल जी के निबंध प्राप्त होते हैं। 'रसमीमांसा' के भाव-निरूपण-सम्बन्धी कुछ लेख भी 'लेखों' मे ही गिने जायेंगे। 'भ्रमरगीतसार की भूमिका', 'भक्ति का विकास', 'शेष-स्मृतियाँ' की भूमिका, 'रसमीमांसा' मे संपादित 'काव्य का लक्ष्य', 'विभाव', 'भाव' निबंध तथा 'चिंतामणि' दोनो भाग शुक्ल जी का यही सम्पूर्ण निबंध-साहित्य है। इनमे भी शुक्ल जी की निबंध कला का वास्तविक उत्कर्ष 'चिंतामणि' भाग 1 के निबंधो मे दिखाई देता है। यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है, शुक्लजी निबंध और प्रबंध मे कोई अन्तर ही नही समझते थे। 'जायसी ग्रंथावली' के 'वक्तव्य' मे उसकी 'भूमिका' को भी उन्होने 'विस्तृत निबंध' कहा है। शुक्ल जी की जायसी, सूर और तुलसी की विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ को संक्षिप्त, सबद्ध निबंधो का-सा रूप देकर एक सज्जन श्री कृष्णानन्द जी ने संपादित किया है, जो 'त्रिवेणी' नाम से काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सन् 1935 मे प्रकाशित हुई थी। इन संग्रहकर्ता महोदय ने उक्त तीनो समीक्षाओ को प्रबंध माना है। परन्तु हम सूर की समीक्षा को संक्षिप्त और अपेक्षाकृत कम व्यापक रचना-दृष्टि के कारण निबंध की ही संज्ञा देंगे। हाँ, 'चिंतामणि' 2 के दो निबंधो की तरह उसे प्रबंध निबंध कह सकते हैं।

इस प्रकार विषय की प्रधानता-अप्रधानता की दृष्टि से शुक्ल जी के निबंध विषय-प्रधान हैं, यद्यपि उनमे व्यक्तित्व भी गौण नही है। उनके निबंधो मे विभिन्न रचना-प्रयोग नही हैं। केवल भाषण रूप मे एक निबंध मिलता है। प्रवृत्ति और शैली की दृष्टि से उनके निबंध विचारात्मक हैं। विषय-विस्तार सीमित है। केवल साहित्यिक विषयो पर ही निबंध लिखे गए है। कुछ निबंध प्रबंध के अंतर्गत आते हैं और कुछ एक लेख मात्र ही हैं, किंतु अधिकांश निबंध सुन्दर विचारात्मक निबंध माने जा सकते हैं।

००

4

विचारात्मक निबंधों का स्वरूप, गुण-धर्म और शुक्ल जी के निबंध (विशेषताएं)

हम पीछे दिखा आये है कि शुक्ल जी के सभी निबध विचारात्मक कोटि के निबध हैं। अब हम पहले विचारात्मक निबधो के गुण-धर्म पर प्रकाश डालेंगे, फिर यह सिद्ध करेंगे कि शुक्ल जी के निबध विचारात्मक निबधो का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।

स्वय शुक्ल जी ने विचारात्मक निबधो के स्वरूप पर अपने विचार अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे प्रकट किये हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबधो की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—"इन लेखो मे अधिकतर लेख 'बातो के सग्रह' के रूप मे ही है। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए-नए विचारो की उद्‌भावना वाले निबध बहुत ही कम हैं। स्थायी निबन्धो की श्रेणी मे दो चार लेख ही, जैसे 'कवि और कविता', प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेख कला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नही जान पडते। 'कवि और कविता' कैसा गभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नही, पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।

> "कहने की आवश्यकता नही कि द्विवेदी जी के लेख या निबन्ध विचारात्मक श्रेणी म आएँगे। पर विचारो की वह गूढ-गुम्फित परम्परा उनमें नही मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड पडे। शुद्ध विचारात्मक निबन्धो का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक एक पैराग्राफ मे विचार दबा-दबा कर कसे गए हो और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो। द्विवेदी जी के लेखो को पढने से ऐसा जान पडता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठको के लिए लिख रहा है।" (पृ० 508-9)

इससे पूर्व भी उन्होने द्विवेदी युग के निबन्धो का सिंहावलोकन करते हुए कहा है कि "इस उत्थानकाल के आरभ मे ही निबन्ध का रास्ता दिखाने वाले दो अनुवादग्रथ प्रकाशित हुए—'बेकन-विचाररत्नावली' और 'निबन्धमालादर्श'। पहली पुस्तक प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की थी और दूसरी श्री गगाप्रसाद अग्नि-होत्री की। उस समय यह आशा हुई थी कि इन अनुवादो के पीछे ये दोनो महाशय

शायद इसी प्रकार के मौलिक निबन्ध लिखने में हाथ लगायें। पर ऐसा न हुआ। मासिक पत्र-पत्रिकायें इस द्वितीय उत्थानकाल के भीतर बहुत सी निकलीं पर उनमें अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही रहते थे, लेखक के अन्त. प्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं।" (पृ० 507-8)

इसी प्रकरण के अन्त में वे द्विवेदी काल के निबंधों और निबन्धकारों पर प्रकाश डालने के पश्चात् लिखते हैं—"अब निबन्ध का प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है। खेद है कि समास शैली में ऐसे विचारात्मक निबन्ध लिखने वाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ परम्परा कसी हो, अधिक लेखक हमें न मिले।" (पृ० 525)। आगे फिर हिन्दी निबन्धों की स्थिति बताते हुए वे कहते हैं—"विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा क्रम के भीतर हिन्दी साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की—ऐसे निबन्धों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े—जितनी ही आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।" (पृ० 558)

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी निबन्ध साहित्य के इस अभाव की पूर्ति में शुक्लजी के निबन्धों ने अपूर्व योग दिया है। हम आगे दिखायेंगे कि उनकी उपर्युक्त कसौटी पर उनके निबन्ध पूरे उतरते हैं।

विचारात्मक निबंधों में तर्क, विश्लेषण और विवेचन का सहारा अधिक लिया जाता है। वे मुख्यतः मस्तिष्क की उपज होते हैं। उनमें बौद्धिक-पक्ष प्रबल होता है। इसके विपरीत भावात्मक निबंधों का सीधा संबंध हृदय से होने के कारण उनमें रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होती है। बाबू गुलाबराय का कथन इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—"यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व (कल्पना तत्त्व, रागात्मक तत्त्व, बुद्धि तत्त्व और शैली तत्त्व) सभी प्रकार के निबंधों में अपेक्षित रहते हैं, तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबंधों में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबंधों में बुद्धि तत्त्व प्रधान होता है तथा भावात्मक निबंधों में रागात्मक तत्त्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्त्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। (काव्य के रूप पृ० 230)

इस प्रकार विचारात्मक निबंधों के गुण धर्म इस प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं—

1 विचारात्मक निबंधों में 'विचारों की गूढ़गुम्फित परम्परा' होनी चाहिए। विचारों की ऐसी सघटित नियोजना होनी चाहिए कि हर एक विचार दूसरे विचार का वहन करने वाला हो, हर विचार दूसरे विचार को जन्म देने वाला हो। "एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबा कर कसे गए" हों और एक-एक

वाक्य किसी-न-किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो। विचारो की शृखला कही भी टूटी हुई नही होनी चाहिए, और किसी प्रकार का विपयातर विचारात्मक निबध की आत्मा को आधात पहुँचा सकता है।

2 विचारो की मौलिकता विचारात्मक निबधो का दूसरा आदर्श है। मौलिकता का प्रश्न साहित्य का एक अनिवार्य प्रश्न है, और साहित्य की सभी विधाओ मे मौलिकता की आवश्यकता है। मौलिकता के बारे मे यह बात नहीं कि लेखक विचार बिल्कुल ऐसे गढे जो कही सुने गए हो न पढे गए, प्रत्युत इससे अभिप्राय यही है कि विचारो के विवेचन का, उनकी अर्थसम्बन्ध-सूत्र-योजना का उसका प्रयास मौलिक होना चाहिए। कविता की अपेक्षा गद्य मे विचारो का अधिक समावेश होता है और गद्य मे भी निबध तो विशेष रूप से विचारो के प्रतिपादन और प्रकाशन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त साधन है। अत निबधो मे तो विचारो की महत्ता ही होती है। अत उनके अन्तर्गत, जैसाकि शुक्ल जी ने कहा है, नए-नए विचारो की ऐसी गम्भीर उद्‌भावना होनी चाहिए जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड पडे और निबधगत "गहन विचारधारा पाठक को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप मे जान पडे।" अत मौलिकता से यही मतलब है कि लेखक के अपने अन्त प्रयास से निकली हुई विचारधारा निबधो मे बसी हुई होनी चाहिए। विचारा के प्रतिपादन मे अथवा विवेचन मे किसी का अनुकरण न किया गया हो, लेखक का स्वाधीन चितन हो।

प० सीताराम चतुर्वेदी[1] ने निबध के पाँच तत्त्व बताये हैं—1. विचार, 2 विचारो के समर्थक तर्क, 3 विचारो के विरोधी तर्क, 4 विचारो का समन्वय और 5 मत-स्थापना। चतुर्वेदी जी ने इन्हे निबध के सामान्य तत्त्व बताने की भूल की है। वास्तव मे केवल तर्क-प्रधान विचारात्मक निबधो मे ही ये तत्त्व माने जा सकते हैं। विचारात्मक निबध-लेखक ही अपने विचारो का प्रतिपादन करता हुआ तर्क, खण्डन-मण्डन आदि द्वारा अपने मतो की स्थापना करता है। अत विचारात्मक निबधो मे लेखक का वैयक्तिक बौद्धिक प्रयास पाया जाता है।

3 विचारात्मक निबधो के विषय गम्भीर एव स्थायी होते हैं। वे 'बातो के सग्रह' मात्र नही होने चाहिएँ। साथ ही सामयिक राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ पर लिखे गये लेख भी—चाहे उनमे विषय का कितना ही गम्भीर विवेचन क्यो न हो—स्थायी विचारात्मक निबधो की श्रेणी मे नही आएगे। सामयिक समस्याओ को यदि शाश्वत रूप प्रदान करके अपनाया जाएगा तभी वे स्थायी साहित्य का अग बन सकेंगे।

1 समीक्षा शास्त्र—पृ० 975

यहां यह याद रहे कि विचारात्मक निबंधों के विषय जहाँ गम्भीर स्थायी होने चाहियें, वहां उनकी विवेचना भी पूरी गहराई के साथ होनी चाहिए। केवल शीर्षक रूप में गम्भीर विषय अपनाने से काम न चलेगा। हम ऊपर कह आए हैं कि विषय का विवेचन पांडित्यपूर्ण होना चाहिए। *उस विषय की 'मोटी-मोटी* बातें बहुत मोटे तौर पर मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिखी न होनी चाहियें। विषय का सूक्ष्म विवेचन आवश्यक है।

4 **व्यक्तित्व की निहिति**—विचारात्मक निबंध, जैसा कि कहा गया है, विषय-प्रधान होते हैं। परन्तु विचारों और विषय-सम्बन्धी उपर्युक्त तत्त्वों से यह नहीं समझना चाहिए कि वे केवल किसी तर्क-शास्त्री अथवा तत्त्वचिंतक की बौद्धिक-यात्रा के प्रदेश मात्र होते हैं। उनमें लेखक के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रकाशन होना चाहिए। यह बात दूसरी है कि इस कोटि के निबंधों में विषय के मार्मिक विवेचन और गाम्भीर्य का ध्यान बराबर रहने के कारण सम्पूर्ण लेख में अपने व्यक्तित्व का स्पष्ट और खुलकर प्रकाशन निबंधकार न कर सकें। किन्तु विचारात्मक निबंधकार का कौशल इसी में है कि विचार सूत्रों के बीच-बीच में वह कहीं कहीं अपनी व्यक्तिगत रुचियों-अरुचियों, भावनाओं और जीवन तथा जगत के प्रति *अपनी रागात्मक प्रतिक्रियाओं को इस प्रकार व्यक्त करता चले जिससे उसके* व्यक्तित्व (The man in the book) का पूर्ण आभास हम पा जाएं।

उच्च कोटि के विचारात्मक निबंधकार में विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन में वैज्ञानिक की-सी यथार्थता, सूक्ष्मता और सतर्कता तथा तत्त्वचिंतक की-सी गम्भीरता के साथ-साथ भावों को प्रेषित करने के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने, संवेदना लाने और व्यक्तित्व की व्यंजना करने में साहित्यिक की पूरी सहृदयता भी होनी चाहिए।

तत्त्वचिंतक से निबंध लेखक का अन्तर स्पष्ट करते हुए स्वयं शुक्ल जी कहते हैं—'तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरे में कहीं नहीं फंसता। पर निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। × × × तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए"[1]। इस प्रकार तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक की रचना में केवल तर्कसम्मत बुद्धि-पक्ष ही होता है

1 हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 506

और विचारात्मक निबंधकार अपनी बौद्धिक जागरूकता के साथ अपनी रागात्मक सत्ता को भी साथ लिए चलता है।

उत्कृष्ट विचारात्मक निबंधों में विचारों की वैयक्तिकता, रुचि अरुचि, भावुकता आदि की व्यक्तिगत विशेषताएं तथा शैली का निजीपन इन तीन रूपों में लेखक के व्यक्तित्व की निहिति होती है। इन तीन रूपों में लेखक के व्यक्तित्व की अमिट छाप उसके निबंधों में होनी चाहिए।

5 **रुक्षता का अभाव**—*ऊपर कहा जा चुका है कि लेखक का भावात्मक* व्यक्तित्व भी निबंध में आवश्यक है। वास्तव में विचारात्मक निबंध में यह बहुत महत्त्व की बात है कि पाठक कहीं गहन विचार-वीथियों में ही सर टकराता न रहे, उसमें स्थान-स्थान पर सरस भाव-स्रोत भी होने चाहिए। यह भावस्रोत ही लेखक की रचना को लोहे के चने बनाने से बचाता है। भाव-तत्त्व द्वारा ही निबंध में रोचकता आती है। अतः विचारात्मक निबंध में रुक्षता का अभाव बहुत जरूरी है।

6 **असाधारण भाषा-शैली**— वैसे तो शुक्ल जी ने निबंध को गद्य की कसौटी कहकर हर निबंध में गद्य-शैली की उत्कृष्टता पर बल दिया है, तो भी भाषा की पूर्ण शक्ति का जैसा विकास विचारात्मक निबंधों में होता है, वैसा अन्य निबंधों में नहीं। अपने विचारों की शुष्कता को दूर करने के लिए निबंधकार शैली में नूतन शक्ति-चमत्कार लाता है। स्वाभाविक अलंकरण, व्यंग्य-विनोद, लाक्षणिक प्रयोग, मुहावरे आदि विभिन्न साधनों द्वारा वह अपनी भाषा को प्रभावोत्पादक तथा रोचक बनाता है। कसी हुई अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण सशक्त शैली का विकास इन निबंधों में ही संभव है।

7 **विचारात्मक निबंधों की निगमन और आगमन शैलियां**—विचारात्मक निबंधों की मुख्य दो शैलियां बताई जाती हैं—*व्यास शैली और समास शैली।* लेखक चाहे इनमें से कोई शैली अपनाए, उसकी रचना में स्पष्टता का गुण होना बहुत आवश्यक है। अपने विचारों को स्पष्टता और सरलता के साथ पाठक को समझा देने का गुण उसकी शैली में अवश्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य के लिए विचारात्मक निबंधों में विवेचना या व्याख्या शैली के दो रूपों—निगमन अथवा आगमन शैली का प्रयोग होना कुछ आवश्यक होना है। शुक्ल जी ने विचारात्मक निबंधों के लिए सम्भवतः समास शैली को अच्छा समझा है, तभी तो वे कहते हैं कि "समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखने वाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा में एक पूरी अर्थ-परम्परा कसी हो, अधिक लेखक हमें न मिले" इस समास शैली के लिए उपर्युक्त निगमन-आगमन शैली बहुत जरूरी है। भाषा में क्लिष्टता के दोष से लेखक को बराबर बचना चाहिए

विचारो की स्पष्टता, उनका स्वाभाविक क्रम, अनावृत्ति तथा सुगमता आदि बातें भी विचारात्मक निबंधो को सफल बनाने वाली होती हैं। जिस लेखक को यह भी ज्ञान नहीं कि किस बात को पहले कहना ठीक होगा और किसको पीछे, वह पाठक को भूलभुलैया मे डाल देता है। लेखक की यह विशेषता होनी चाहिए कि एक पैराग्राफ को पढकर जो शका या प्रश्न पाठक के मन मे उठे उसी को आगे स्पष्ट किया जाय। प्राय: स्पष्टता तथा सुगमता के लिए बार-बार दुहराने की आदत सी पड जाती है, इस दोष से भी निबधकार को बचाना चाहिए।

उपर्युक्त कसौटी पर शुक्ल जी के निबध खरे उतरते हैं। सघटित विचारो की परम्परा उनके प्रत्येक निबंध म पाई जाती है। उन्होंने सदैव एक विचार को दूसरे विचार से सम्बद्ध रखने का प्रयत्न किया है। विचारो की परम्परा उनके निबधो में कही भी टूटी हुई सी लक्षित नही होती। इसी कारण निबधो मे कसावट स्वत: ही आ गई है। जहा कही लेखक अपने निबधो मे इधर-उधर अपनी दृष्टि दौडाता है—चाहे वह किसी सामाजिक अनुभूति से सम्बन्धित हो, अथवा साहित्यिक समस्या या व्यक्तिगत रुचि-अरुचि हो—वह रहता सदैव अपने विषय के साथ ही है। विषयान्तर शुक्ल जी के किसी भी निबध मे नही। 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' शीर्षक निबध मे शुक्ल जी अंतिम पृष्ठो मे योरप के अनेक 'वादो'—'रहस्यवाद', 'कल्पनावाद', 'कलावाद', व्यक्तिवाद' आदि पर चोटें करते पाए जाते हैं और ऐसा लगता है कि लेखक अपनी बात को खीचकर दूसरी ओर ले जा रहा है, परन्तु यहा भी लेखक ने अपने विषय को पुष्ट और स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही इन धारणाओ को (चाहे लेखक की धारणाए सर्वमान्य न हो) प्रकट किया है। वह इस सारे विवेचन से यही जतलाना चाहता है कि "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषो के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही हैं · ······पर योरपीय काव्य दृष्टि इधर बहुत दिनो से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। × × × हमारी वाणी भाव-क्षेत्र के बीच भेदो मे अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी भूठे-सच्चे विलक्षण भेद खडे करके लोगो को चमत्कृत करने मे लगी।'

यहा शुक्ल जी यही दिखाना चाहते हैं कि योरप के ये 'कलावाद', 'कल्पनावाद', 'व्यक्तिवाद' आदि अनेक आन्दोलन साधारणीकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी अपने विषय से कहीं भी भटकते हुए नही दिखाई देते। 'ईर्ष्या' निबन्ध में भी अभिमान मनोभाव की बात, जो ईर्ष्या का सहयोगी है, लम्बी खीच गए हैं। इस खीचतान मे अपने व्यक्तित्व की स्थापना भी उन्होंने की है, पर विषयान्तर फिर भी नहीं आने पाया। दो पृष्ठो मे अभिमान सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करके फिर सम्बद्ध विषय पर आ गए हैं।

शुक्ल जी के निबंधो मे विचार की गुम्फित परम्परा भी खूब पाई जाती है। विचारो की ऐसी शृखला, जिसमे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर कुछ सोचने के लिए बाध्य हो जाय, शुक्ल जी के निबधो मे सर्वत्र पाई जाती है। 'चिन्तामणि' भाग 1 के पहले ही निबंध 'भाव या मनोविकार' को लीजिए। 'समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं'- इस विचार को स्पष्ट करते हुए आगे के वाक्यों मे कितने ही विचार साथ-साथ प्रकाशित करते गए हैं, किस प्रकार एक विचार दूसरे विचार को जन्म देता है—यह दृष्टव्य है। "लोक-रक्षा और लोक-रजन की सारी व्यवस्था का ढाचा इन्ही पर ठहराया गया है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन—सब मे इनसे पूरा काम लिया गया है। इन का सदुपयोग भी हुआ और दुरुपयोग भी। × × × सब प्रकार के शासन मे—चाहे धर्म-शासन हो, चाहे राज-शासन या सम्प्रदाय शासन मनुष्य जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दण्ड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज-शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म-शासन और मत-शासन चलाते आ रहे हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से सहृदय पाठक देखें, किस प्रकार शुक्ल जी ने एक विचार को स्पष्ट करते हुए उसी से सम्बद्ध अन्य विचार निकाले हैं। किस प्रकार भावो द्वारा प्रवृत्ति की बात पर विचार करते हुए शासक-वर्ग तथा धर्म सम्प्रदायो आदि की स्वार्थ-सिद्धि, स्थिति-रक्षा तथा भावो को गदा करने आदि के कितने ही विचार एक ही पैराग्राफ म ठूस दिए हैं, और विचार से विचार निकलता आया है।

शुक्ल जी के निबन्धो मे व्यक्त विचार उनके अपने हैं। ये निबन्ध उनके अन्तः प्रयास से निकली विचारधारा का परिणाम है, उनकी बौद्धिक जागरूकता के परिचायक है, यह उनका अपना बुद्धि-विलास है। किसी का अनुकरण अथवा प्रभाव इनकी रचना मे नही पाया जाता।

भावो अथवा मनोविकारो का विवेचन पहले भी हुआ है। हमारे रस-शास्त्रियो ने भी भावो के विश्लेपण और काव्यगत व्यवहार का विवेचन किया था और आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्री भी शुष्क सिद्धान्तो की खोज और मनस्तत्त्व का विवचन करते पाए जाते हैं। इसी प्रकार बेकन' ने भी 'Of Envy,' 'Of Love', 'Of Anger' आदि शुक्ल जी के 'ईर्ष्या', 'प्रीति', 'क्रोध' आदि से मिलते-जुलते विषयो पर लिखा और हैजलिट, चार्लस लैम्ब तथा हमारे यहा के बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि ने भी अमूर्त-मनोजगत के विषयो पर निबंध लिखे है। परन्तु शुक्ल जी शास्त्रीय-पक्ष मे न सस्कृताचार्यो का अनुसरण करते पाए जाते हैं और न मनोविज्ञान-शास्त्रियो का। बेकन की सक्षिप्त

उपदेशात्मक शैली भी उन्होंने नही अपनायी। उपदेश देना उनका उद्देश्य नही, वे तो पाठक के व्यावहारिक दृष्टिकोण को रागात्मक बनाना चाहते हैं। अन्य लेखको की तरह अखबारी मनोरंजन, मस्ती और फक्कडपन भी उनके लेखो मे नही है। शुक्ल जी ने गम्भीरतापूर्वक अपने ही ढग से लिखा है। भावो का जो साहित्यिक, सामाजिक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन्होने विवेचन किया है, वह उनके अपने जीवन के गम्भीर अध्ययन और अनुभव, उनके अपने मस्तिष्क की उपज है। विचारो की यही मौलिकता उनके निबन्धो की विशेषता है, जो उत्कृष्ट विचारात्मक निबन्धो मे होनी चाहिए।

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो प्रकार की समीक्षाओ मे भी शुक्ल जी की मौलिक देन है। साधारणीकरण पर हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी बहुत विशद विचार किया था, पर शुक्ल जी का 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक लेख उनके मौलिक चिंतन का द्योतक है। 'साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है"—आदि बातो का प्रतिपादन करके उन्होने साधारणीकरण की साहित्यिक समस्या को सुलझाने मे पर्याप्त योग दिया है। यही बात सभी निबन्धो के बारे मे कही जा सकती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की हिन्दी गद्य तथा पद्य-भाषा और साहित्य के निर्माण म जो अद्भुत देन है, उसका सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही उद्घाटन किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनके निबन्धो म उनकी वह मौलिक और नवीन चिंतन-धारा संचित है जिससे पाठक की बुद्धि को अवश्य ही मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि होती है। उनके निबन्धो म उनका स्वतन्त्र चिंतन है, उनके अपने सिद्धान्त है, उनकी अपनी मान्यताए है। एक मौलिक विचारक के नाते शुक्ल जी सदैव हमारी श्रद्धा के पात्र रहेंगे।

उनके निबन्ध सामयिक साहित्यिक अथवा राजनीतिक विषयो से सम्बन्धित नही हैं। न वे 'आख,' 'नाक', 'कान' आदि हलके-फुलके विषयो से सम्बन्धित हैं और न बातो के संग्रह मात्र हैं। वास्तव मे साहित्य और जीवन की शाश्वत समस्याओ और आवश्यकताओ पर पूरी गहराई के साथ उनम विचार भरे गए हैं। साहित्य के स्थायी भावो अथवा व्यक्ति मात्र की शाश्वत वृत्तियो तथा साहित्य--समीक्षा को इस ढग से विवेच्य बनाया है कि उनके निबधो मे मानवीय तत्त्व पूर्ण रूप से पाया जाता है। इस रूप म ये निबध किसी भी भाषा के साहित्य को गौरवान्वित कर सकते हैं। प्रत्येक निबध मे विषय का प्रतिपादन सूक्ष्मता और गहराई के साथ किया गया है।

शुक्ल जी के निबन्धो म जहा विचारो की गुरु गम्भीरता है, वहा साथ-साथ भावो की सरलता भी पाई जाती है। उनकी अन्तर्यात्रा में "रास्ता निकालती हुई

बुद्धि जहा कही मार्मिक या भावाकर्षक स्थलो पर पहुँचती है वहा हृदय थोडा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।" शुक्ल जी के निबधो मे उनका तत्त्वचिंतक और विचारक का व्यक्तित्व तो मिलता ही है साथ ही एक सहृदय साहित्यकार की सत्ता भी सर्वत्र विद्यमान है।

उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप उनके प्रत्येक निबन्ध मे पाई जाती है। भावो या मनोविकारो पर लिखे गए निबन्धो मे तो उनका व्यक्तित्व बहुत स्पष्ट और खुलकर आया है। व्यक्तिगत घटनाओ और प्रसगो से जैसे एक लपनधी दोस्त के साथ साची जाने का प्रसग, एक ब्राह्मण देवता को अगीठी जलाते देखना तथा काशी के दुकानदार की वार्तालाप का प्रसग आदि से उन्होने अपनेपन की छाप अपने निबधो मे लगाई है। व्यक्तिगत रुचि-अरुचि प्रकट करके भी जैसे पक्के राग गाने वालो पर फबती कस कर, ढोगियो और झूठे देशहितैषियो पर सुन्दर व्यग्य कस के, भारतीयो की फलासक्ति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करके तथा कही अपना प्रकृति-प्रेम और अतीत-प्रेम दिखाकर उन्होने अनेक रूपो मे अपने भावात्मक व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया के रूप में अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप अपने निबन्धो म लगाई है। उनके निबन्धो से उनका विशिष्ट सामाजिक दर्शन, लोकादर्शवाद, उनके व्यक्तिगत साहित्यगत-अभिमत तथा उनकी सब प्रकार की रुचि-अरुचि का पूरा पता लग जाता है।

'बफन' की उक्ति "शैली ही मनुष्य है" (Style is the man himself) हिन्दी लेखको मे शुक्ल जी पर जिस सत्यता से लागू होती है उतनी शायद किसी अन्य लेखक पर नही। उनका कवि-हृदय और आलोचक का मस्तिष्क उनके निबधो मे स्पष्ट झलकता है। उनके गम्भीर और प्रभावशाली व्यक्तित्व के ही अनुसार उनकी शैली भी अत्यन्त गम्भीर एव प्रभावशाली है।

शुक्ल जी हिन्दी के इने-गिने शैली-निर्माताओ मे प्रमुख स्थान रखते हैं। उनका गद्य अत्यन्त सशक्त है। हिन्दी गद्य की अभिव्यजना-शक्ति को उन्होने खूब बढाया है। हास्य-व्यग्य, मुहावरो और लाक्षणिक प्रयोगो के अतिरिक्त उनकी शैली की एक बहुत बडी विशेषता है मूर्तिमत्ता। शुक्ल जी साहित्य की विशेषता अर्थ-ग्रहण कराने मात्र मे नहीं मानते। वे बिम्ब-ग्रहण कराना भाषा की मुख्य विशेषता बताते रहे हैं। उनके निबन्धो मे भाषा की यही विशेषता पाई जाती है। अपनी भाषा को रोचक एव प्रभावोत्पादक बनाने के लिए शुक्ल जी ने स्वाभाविक अलकरण तथा वाक्य और शब्द-प्रयोगो मे अनेक प्रकार की विचित्रता दिखाई है। भाषा की कसावट का सब से उत्तम उदाहरण शुक्ल जी को छोड कर कहाँ मिलेगा? इस कसावट के ही कारण उनकी भाषा मे प्रौढता, अर्थ गाभीर्य और अभिव्यजनात्मकता की वृद्धि हुई है। उनकी समस्त विवेचनात्मक शैली मे

एक विशेष प्रकार की शालीनता (grandeur), और प्रभावोत्पादिनी शक्ति (convincing power) पाई जाती है।

शुक्ल जी ने निगमन और आगमन शैली का बडा सफल प्रयोग किया है। कुछ लोग उनके निबधो मे रुक्षता और क्लिष्टता का दोष लगाते हैं। साधारण बुद्धि और रुचि के व्यक्ति को उनके निबन्ध अवश्य ऐसे प्रतीत होगे। किन्तु वास्तव मे न उनके निबन्धो मे रुक्षता पाई जाती है और न क्लिष्टता। उनके निबधो के विषय ही गम्भीर हैं और उनका प्रतिपादन भी अत्यन्त विद्वत्ता से हुआ है। उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्धकार के नाते उनकी पैठ बडी सूक्ष्म है। अत उन्हें समझने के लिए कुछ बौद्धिक परिपक्वता चाहिए। रुक्षता और क्लिष्टता को बचाने के ही लिए उन्होने हास्य-व्यग्य, भावात्मकता आदि के साथ-ही-साथ निगमन और आगमन शैली का प्रयोग किया है। वे किसी विचार को यो ही नही थोप देते बल्कि कार्य-कारण सम्बन्ध से उसका विवेचन करते हैं, उदाहरणो, उद्धरणो, तर्क-वितर्क तथा तुलना द्वारा उसे सिद्ध करके अपना मत स्थापित करते हैं। निगमन शैली का व्यवहार करते हुए वे पहले थोडे शब्दो मे अपनी बात कह देते हैं। सूत्र रूप मे कहने की उनकी विशेष प्रवृत्ति है। फिर अपने विचार को खोल कर स्पष्ट करते हैं और जब तक उन्हे विश्वास नही हो जाता कि विषय पाठक की समझ मे आ गया है, तब तक वे उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से करते रहते हैं। फिर आगमन शैली की तरह 'साराश यह कि', 'तात्पर्य यह' आदि से अपना निष्कर्ष दे देते हैं। इस सूत्र-शैली के ही कारण उन्होने अनेक अर्थ-गर्भ सूत्र-वाक्यो का निर्माण किया है जो उनकी अनुभवशीलता तथा रचना-कौशल का परिचायक है। उनके इन सूत्र-वाक्यो की ध्वनि बहुत दूर तक जाती है। उनकी सूक्तियो म गूढ सिद्धान्त मुरब्बे की तरह सुरक्षित हैं। 'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है', "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है", "भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है," "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण" आदि वाक्य असाधारण प्रतिभा की देन हैं।

इस प्रकार शुक्ल जी उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध-लेखक हैं। विचारात्मक निबन्धो का चरमोत्कर्ष उनके निबन्धो मे पाया जाता है। प्रत्येक विषय मे उनकी पहुच अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर है। उनके निबन्ध उनके विस्तृत अध्ययन, चिंतन और मनन के प्रतिफल हैं। उनकी शैली मे दृढता और बल है। उन्होने बडे सबल और प्रभावात्मक ढग से अपने विचारो को दृढता से व्यक्त किया है। हिन्दी साहित्य को उन पर, उनके निबन्धो पर विशेष गर्व है।

शुक्ल जी की निबन्ध-शैली की उपर्युक्त विशेषताओ के अतिरिक्त कुछ सामान्य बातो का भी उल्लेख कर देना जरूरी है। साहित्य की अन्य विधाओ—

उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की भाँति निबन्ध जीवन की व्याख्या भी करता है, किन्तु व्याख्या के साथ-साथ उसकी विशेषता जीवन के निर्माण एव उन्नयन की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक है। जीवन की व्याख्या उपन्यास आदि अन्य रूपो जैसी निबन्ध मे चाहे न हो परन्तु जीवन-निर्माण की दृष्टि से उसका महत्त्व सबसे बढ़कर है। चिन्तन-मनन से युक्त समाज के तत्त्व, जीवन की ठोस समस्याओ और गम्भीर उलझनो का हल सबसे अधिक निबन्ध ही मे सभव है। उसमे विचार-तत्त्व सर्वाधिक रहता है।

एक दृष्टि से देखा जाए तो आलोचक ही अपने आलोचनात्मक निबन्धो द्वारा कलाकृतियो के महत्त्व को आकता है और साहित्य के सृजन मे सहायता देता है। ससार की किसी भाषा के साहित्य को ले लीजिए, उसकी श्रेष्ठता, उच्चता और गहराई का आधार उसके निबन्धो की उच्चता और प्रचुरता पर होता है।

न-केवल साहित्य और साहित्यकारो की महत्ता के लिए, अपितु भाषा की अभिव्यजना शक्ति के चरम विकास की दृष्टि से भी निबन्ध साहित्य का महत्त्व-पूर्ण अग है। शुक्ल जी के शब्दो मे भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धो मे ही सबसे अधिक सम्भव होता है। निबन्धो से ही भाषा की शिथिलता दूर होती है और उसमे अभिव्यक्ति की स्पष्टता, जोर और दृढता आती है। निबन्ध मे विषयो की अनेकरूपता तथा भाषा-लाघव के कारण शब्दावली में पारिभाषिक परिपक्वता तथा अर्थगतसूक्ष्मता के साथ साथ शब्द भण्डार की वृद्धि भी होती है। जिस भाषा मे जितने ही अधिक निबन्ध होगे, उसकी सर्वांगीण क्षमता उतनी ही अधिक मानी जायेगी।

इस प्रकार निबन्ध का अपने स्थान पर अपना विशेष महत्त्व है। कहने की आवश्यकता नही कि शुक्ल जी के निबन्ध गद्य-साहित्य मे अपने स्थान पर अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। गम्भीर स्थायी विचारो की एक परम्परा उनमे मिलती है, साथ ही उनका सामाजिक पक्ष (विशेष रूप से मनोविकारो पर लिखे गए निबन्धो का) और साहित्यालोचन पक्ष (साहित्य आलोचना के निबन्धो का) दोनो ही इतने प्रबल है कि जीवन और साहित्य दोनो के निर्माण की अद्भुत क्षमता उनमे पाई जाती है। गद्य शैली के विकास की दृष्टि से तो वे निबन्ध के उद्देश्य की पूर्ण पूर्ति करते हैं।

शुक्ल जी के आरम्भिक लेख—'भाषा की शक्ति', 'साहित्य', 'उपन्यास,' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी', 'मित्रता' आदि निबन्ध कला की दृष्टि से विशेष प्रौढ नही हैं। चिन्तामणि भाग-1 के निबन्ध ही उनके सर्वश्रेष्ठ और उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध हैं। चिंतामणि भाग-2 के के निबन्ध 'काव्य मे रहस्यवाद', 'काव्य म अभिव्यजनावाद' तथा भ्रमरगीतसार

की भूमिका के रूप मे सूर पर आलोचनात्मक निवन्ध आदि कुछ अधिक लम्बे हो गए हैं। निवन्ध मे एक निर्दिष्ट विषय रहता है। विषय-विशेष के निश्चित पहलू पर विचार होने के कारण निबन्ध का आकार सक्षिप्त होता है। हर्बर्ट रीड ने निबन्ध के आकार के बारे मे कहा है—' ऐसे 3500 से लेकर 5000 शब्दो तक होना चाहिए। 3500 शब्दो से कम मे लिखा हुआ निबन्ध रूपरेखा या रेखाचित्र-सा हो जाता है और 5000 शब्दो से अधिक मे लिखा निवन्ध एक प्रवन्ध।" निवन्ध के आकार के बारे म शब्दा की सख्या का इस प्रकार कोई बन्धन तो नही लगाया जा सकता, हाँ, इतना अवश्य है कि जहा तक हो निबन्ध सीमित आकार का स्वत पूर्ण लेख होना चाहिए, जिसमे अनावश्यक विस्तार बिल्कुल न हो। शुक्ल जी के ये निवन्ध विस्तार आधिक्य के ही कारण निबन्ध की अपेक्षा कुछ-कुछ प्रबन्ध हो गए हैं। उनके व्यक्तित्व की भावात्मक विशिष्टता भी चिंतामणि भाग-2 क इन दो निबन्धो मे कम है।

oo

5

शुक्ल जी के मनोभावों-सम्बंधी निबंध

विशेषताएं

शुक्ल जी के मनोभावो पर लिखे गए निबन्ध उनके सर्वश्रेष्ठ निबन्ध हैं। हम पीछे दिखा आए हैं कि उनके ये निबन्ध उच्च कोटि के विचारात्मक निबन्ध हैं जिन म विषय और व्यक्तित्व दोनो तत्वो का सुन्दर सम्मिश्रण है। शुक्ल जी साहित्य के विशेषज्ञ हैं, अत उन्होने एक साहित्यकार के रूप मे ही ये निबन्ध लिखे हैं, मनोविज्ञान-शास्त्री के रूप मे नही। मनोवैज्ञानिक लेखो की भाँति दुरूहता तथा रूखापन उनमे नही है, अपितु सरलता, सरसता तथा साहित्यिकता ही स्थान-स्थान पर पाई जाती है। मनोविज्ञान शास्त्रियो का सा गूढ शास्त्रीय विवेचन भी शुक्ल जी के निबन्धो मे नहीं है। उन्होने तो अपने साहित्यिक तथा व्यावहारिक उपयोगिता के मतलब की सिद्धि के लिए ही भावो की सूक्ष्म छान-बीन की है, मनोविज्ञान के सिद्धान्तो का निरूपण करने के लिए नहीं।

साहित्यकार के रूप मे भी शुक्ल जी अपने इन निबन्धो के साथ मनोभावो (abstract विषयो) पर लिखने वाले अन्य साहित्यिको से विशिष्टता रखते हैं। शुक्ल जी से पूर्व प० बालकृष्ण भट्ट (आत्मनिर्भरता), श्री प्रतापनारायण मिश्र *(मनोयोग)*, *श्री माधव प्रसाद मिश्र (धृति और क्षमा)*, महावीर प्रसाद द्विवेदी (लोभ, क्रोध)आदि ने भी ऐसे विषयो पर लेखनी चलाई, किन्तु उनके निबन्धो मे केवल शिक्षात्मक लाभ-हानि बताने वाला धर्मशास्त्रीय या नैतिक दृष्टिकोण ही रहता था। इन लेखको ने शुद्ध भावो की दृष्टि से इन विषयो को नही अप-*नाया। हमारे प्राचीन रस-आचार्यों ने शुद्ध भावो के रूप मे इनका साहित्यिक* स्वरूप दिखाया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण शुक्ल जी से सर्वथा भिन्न था। उप-युँक्त लेखको मे से किसी ने भी शुक्ल जी की तरह मनोवेगो की उत्पत्ति, उनका स्वरूप, विकास, पारस्परिक भेद, उनकी व्यावहारिक उपयोगिता, साहित्यिक *सम्बन्ध आदि दिखाने का प्रयास नही किया। इस प्रकार शुक्ल जी की शैली* सर्वथा मौलिक है।

शुक्ल जी ने अपने इन दस निबन्धो मे अपने साहित्यिक एव सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण अनुभव प्रकट किया है। इन निबन्धो को उन्होने विशेष अभि-प्राय से लिखा है। वे पाठक की रागात्मिका वृत्ति को जागृत करना चाहते हैं।

सब प्रकार की प्रवृति और निवृत्ति के द्योतक, मानव जीवन के प्रवर्तक ये भाव या मनोविकार ही होते हैं। भावो को गदा करना सबसे बडा पाप है। भावो का अपने प्रकृत रूप मे ही अपनाना चाहिए। कविता ही भावो का शुद्ध रूप हमारे सामने प्रकट करती है, अत सच्ची प्रवृत्ति और निवृत्ति को जगाने की शक्ति कविता मे ही होती है। शुक्ल जी इन भावो का कविता के साथ अटूट सम्बन्ध बता कर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी की दवा भी कविता ही है। इस प्रकार वे मनोवेगो तथा काव्य का सामाजिक और व्यावहारिक महत्त्व भी सिद्ध करते हैं। शुक्ल जी ने प्राय उन्ही मूल मनोविकारो को विषय बनाया है, जो साहित्य मे रस-विधान से सम्बन्ध रखते हैं। साहित्य तथा दैनिक व्यावहारिक जीवन से ही उदाहरण दे कर उन्होने अपने विषय को स्पष्ट किया है जिससे एक प्रकार की सजीवता उनके निबन्धो मे सर्वत्र आ गई है। शुक्ल जी पाठक की रागात्मिका वृति को व्यावहारिक बनाना चाहते है, यही उनके इन निबन्धो का उद्देश्य है।

शुक्ल जी पहले मनोवेग का स्वरूप, उसकी उत्पत्ति और दूसरे मिलते-जुलते मनोवेगो से साम्य तथा भेद स्पष्ट करते हैं। इसके पश्चात शुक्ल जी व्यावहारिक पक्ष पर आ जाते हैं। तब वे इन मनोवेगो की सामाजिक उपयोगिता और महत्ता पर समाज, सामान्य जीवन और साहित्य से उदाहरण दे कर प्रकाश डालते है। इन मनोवेगो का सदुपयोग भी हुआ है, दुरुपयोग भी। शुक्ल जी बडे सरल व रोचक ढग से इन भावा के प्रवृत्ति पक्ष की विवेचना करते हैं।

इन निबन्धो मे निहित सिद्धात उनकी साहित्यिक आलोचना से सगत है। इन निबन्धो की एक विशेषता यह भी है कि इनके द्वारा शुक्ल जी क जीवन-दर्शन, नैतिक व सामाजिक आदर्शों के साथ-साथ उनके काव्यादर्श और काव्य-सिद्धात आदि सव इस प्रकार स्पष्ट हो जाते है कि उनकी साहित्यिक आलोचना से भी इनकी सगति बैठ जाती है। इन निबन्धो मे वे सभी मूल सूत्र मिल जाते हैं जिनके आधार पर शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक आलोचना खडी की। शुक्ल जी का हृदय लोक-मगल की भावना से परिप्लावित है। वे प्रत्येक विषय का मूल्याकन इसी दृष्टि से करते थे। उनके इसी भाव ने तुलसी सरीखे शुद्ध भक्त और कवि मे लोक-सग्रह और लोक मगल की भावना मुख्य रूप से देखी। यही भावना उनके इन सभी निबन्धो मे पाई जाती है। प्रथम निबन्ध मे ही ये भाव हैं—"भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति निवृत्ति को जागरित रखने वाली शक्ति कविता है जो धर्म क्षेत्र मे भक्ति भावना जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मगल और लोक के मगल का सगम उसी के भीतर दिखाई पडता है।" सच तो यह है कि शुक्ल जी की समस्त चिताधारा प्रसगवश इस

लोक-मंगल की भावना की दृष्टि से अवश्य विचार करती है। श्रद्धा के सारे विषय को ही वे लोक मंगल, सदाचार आदि पर घटाते हैं। काव्य या कला के सम्बन्ध मे उपयोगिता के उनके विचार 'श्रद्धा भक्ति' वाले निबन्ध मे भी प्रकट हुए हैं। साधन सम्बन्धिनी श्रद्धा का उल्लेख करते हुए वे देशी कारीगिरी, चित्रकारी, संगीत आदि की भर्त्सना करते हैं। साथ ही रीतिकालीन शब्दालंकार चमत्कार-प्रियता के प्रति अपना आक्रोश भी उन्होने प्रकट किया है। भक्ति के सामाजिक महत्त्व और लोक-हितकारिणी शक्ति का उद्घाटन भी इसी भावना से प्रेरित हो कर किया गया है। समाज-कल्याण, आराध्य मे शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा आदि तुलसी की भक्ति-पद्धति-सम्बन्धी आलोचना-सूत्र हमे इस निबन्ध मे पूर्णतया मिलते है। राम के कर्तव्य-सौन्दर्य ने उनकी सारी विचार धारा को प्रभावित किया है। 'उत्साह' नामक निबन्ध में वे साहित्य मे सुधारो तथा वादो के विरुद्ध अपनी विचारधारा को प्रकट करते हैं। सुधार के नाम पर साहित्य के क्षेत्र मे भी लोग गन्दगी फैलाते पाए जाते हैं। इस प्रकार लोक-संग्रह तथा कर्म-सौन्दर्य की भावना, ऐकान्तिक प्रेम की अपेक्षा लोक-जीवन को परिचालित करने वाले कर्म-सौन्दर्य की भावना से युक्त प्रेम की महत्ता (लोभ और प्रीति) और इसी लिए भारतीय प्रबन्ध काव्यो के प्रेम की सराहना तथा फारसी साहित्य और हमारे यहाँ के गोपियो के लोक-बाह्य प्रेम की निन्दा, भगवद्भक्ति मे भी लोक-धर्म की महत्ता मानना आदि सिद्धात उनकी साहित्य-आलोचनाओ में स्पष्ट दिखाई देते हैं। 'लोभ और प्रीति' निबन्ध मे जब शुक्ल जी कहते हैं कि "लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुन कर दौड पडना लोभ है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा" · आदि, तो इस कथन से रत्नसेन के पूर्व-राग की आलोचना का सम्बन्ध-सूत्र मिल जाता है। इस प्रकार उनके इन निबंधों मे वे सम्बन्ध-तन्तु मिलते हैं जो उनकी समस्त रचनाओ को संगठित करते है।

शुक्ल जी के इन निबन्धो मे नैतिक पक्ष अत्यन्त प्रबल होते हुए भी वे उपदेशक और नीति का प्रवचन देने वाले समाज-शास्त्री या नीति-शास्त्री से सर्वथा भिन्नता रखते हैं। उन्होने नीति को व्यावहारिक बनाया। वे भावो को प्रकृत रूप मे ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। इसीलिए तो वे क्रोध जैसे मनोवेग की भी सामाजिक उपयोगिता बताते हैं।

इन निबन्धो की एक और बडी विशेषता है शैली की उत्कृष्टता। शुक्ल जी ने विचारात्मक निबन्धो की सर्वश्रेष्ठ शैली का प्रयोग इन निबन्धो मे किया है। निगमन और आगमन शैली का जैसा सुन्दर प्रयोग इन निबन्धो में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सूत्र-वाक्यों का प्रयोग बहुत भव्य है। इन निबन्धो मे शुक्ल जी

का व्यक्तित्व बहुत उभरा हुआ है। अत. हास्य-व्यग्य से युक्त भावात्मक शैली के भी इन निबन्धो मे सर्वाधिक दर्शन होते हैं। ये निबन्ध उनके सर्वश्रेष्ठ रोचक निबन्ध हैं। निबन्ध के गुण धर्मों की दृष्टि से लेखक को इनमे सर्वाधिक सफलता मिली है। इनमे उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है। दूसरे निबन्धो की अपेक्षा इनमे कुछ तद्भव शब्द अधिक हैं और भाषा मे लाक्षणिक प्रयोग, मुहावरे, स्वाभाविक लोकोक्तिया तथा व्यग्य-विनोद की प्रवृत्ति आदि शैली के कुछ ऐसे गुण अन्य निबन्धो से अधिक हैं जो इन्हे विशेष रोचक बनाते हैं। इन निबन्धो का भावपक्ष भी अधिक विस्तृत और मार्मिक है। विषय और व्यक्तित्व, बुद्धि और हृदय, मनोविज्ञान और नीति, नीति और साहित्य आदि का भव्य सामजस्य इन निबन्धो को विशिष्टता प्रदान करता है। वास्तव मे ये निबन्ध शुक्ल जी की निबन्धकला का चरम विकास हैं। इनम बुद्धि की गुरु-गभीरता के साथ-साथ सरलता भी विद्यमान है। निस्सदेह इन निबन्धा मे उनका जीवन-दर्शन, समाज-दर्शन, उनकी काव्य-विषयक कुछ धारणाए, उनका व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है।

मनोवैज्ञानिक तथ्यों के निरूपण मे सफलता-असफलता

शुक्ल जी अपने इन निबन्धो मे स्थान-स्थान पर इन मनोवेगो की सार्थकता को पाठक के सम्मुख व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार तुलसीदास अपने 'मानस' मे राम के परब्रह्म स्वरूप को पाठक के सामने व्यक्त करते रहते हैं ताकि पाठक कही भी यह भूलने न पाय कि उनके राम अलौकिक परमपुरुष हैं, उसी प्रकार शुक्ल जी भी पाठक को मनोवेगो की प्रवृत्तिमूलक सार्थकता के सम्बन्ध मे सजग करते रहते हैं। पहले निबन्ध मे ही वे कहते हैं—समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार हैं'। 'करुणा','श्रद्धा-भक्ति' आदि सभी निबन्धो मे यह बात स्थान-स्थान पर प्रकट की गई है। अकेले 'करुणा' से ये कुछ उदाहरण देखिए—

1 मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति मे, भावो की तत्परता मे है।

2. क्रिया मे तत्पर करने वाली वाणियो की आदि अन्त करण वृत्ति मन या मनोवेग है।

3. मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नही।

4. मनोवेग-वर्जित सदाचार दभ या झूठी कवायद है।

इस प्रकार की उक्तिया उनके चाहे जिस निबन्ध से निकाली जा सकती हैं। इन भावो की छानबीन करना ही उन्होने अपने इन निबन्धों का उद्देश्य बनाया, नीति उपदेश देना नही। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध मे वे स्पष्ट कहते हैं—मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है,

यह बतलाना 'पर उपदेश कुशल' नीतिज्ञो का कर्म है, मेरे विचार का विषय नही। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है। मुझे तो यह कहना है कि इन अवस्थाओ मे मेल की प्रवृत्ति होती है।"

मनोवृत्तियो और मनोविकारो के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिक तथ्यों के प्रतिपादन मे भी शुक्ल जी को पर्याप्त सफलता मिली है किन्तु उनका यह प्रयास सर्वथा निर्दोष नही माना जा सकता। जहाँ भावो की सूक्ष्म विवेचना और तथ्य-निरूपण मे उन्होने अपनी पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है, वहाँ कुछ स्थापनाए वे जल्दी मे भी कर गए हैं, कभी-कभी परिभाषा मे अव्याप्ति और अशुद्धि का दोष भी रह जाता है, कभी वे किसी भाव के सम्बंध मे एक तरफा फैसला देकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि भी ला देते हैं। फिर भी कुछ दोषो के बावजूद शुक्ल जी को मनोविकारो के विवेचन मे आशातीत सफलता मिली है।

मनोविकारों का विभाजन

शुक्ल जी ने पश्चिमी मनोवैज्ञानिक शास्त्रियो के अनुसार सब भावो को सुखमूलक और दुःखमूलक इन दो वर्गों मे विभाजित किया है। भय, क्रोध, घृणा, करुणा, ग्लानि आदि को वे दुःख वर्ग मे गिनते हैं, और उत्साह, लोभ, प्रीति, श्रद्धा आदि सुख वर्ग मे रखे हैं। "मनोविकारों या भावो की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यो से भिन्न होते हैं।" (भाव या मनोविकार)

शुक्ल जी ने मनोविकारो (Emotions) और भाववृत्तियो (Sentiments) का स्पष्ट विभाजन और अन्तर तो प्रस्तुत नही किया किन्तु तो भी प्रसगवश वे इस अन्तर को बताते अवश्य हैं। वैर और क्रोध के अन्तर से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल मनोविकार और भाव वृत्ति का अन्तर स्वीकार करते हैं। 'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।" 'क्रोध मनोविकार तीव्र अधिक किन्तु क्षणिक और गतिमय होता है, वैर भाव-वृत्ति मे तीव्रता अपेक्षाकृत कम किन्तु स्थायित्व अधिक रहता है।'

भावों का प्रेष्य और अप्रेष्य दो भागों मे वर्गीकरण भी शुक्ल जी ने किया है। "प्रेष्य वे हैं जो एक के हृदय मे पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरो के हृदय मे भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि। जिस पर हम क्रोध करेंगे वह हम पर भी क्रोध कर सकता है। जिससे हम प्रेम करेंगे वह हमारे प्रेम को देखकर हमसे भी प्रेम कर सकता है। अप्रेष्य मनोविकार जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं, उसके हृदय मे यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावो की सृष्टि करेंगे।

इनके अन्तर्गत भय, दया, ईर्ष्या आदि हैं।" "सजातीय संयोग पाकर प्रेष्य मनोवेग बहुत जल्दी बढते हैं। एक के क्रोध को देख दूसरा क्रोध करेगा, दूसरे का क्रोध बढते देख पहले का क्रोध बढेगा, फिर दूसरे का और बढेगा, इस प्रकार एक अत्यत भीषण क्रोध का दृश्य उपस्थित हो सकता है।" इस प्रकार आचार्य रामचद्र शुक्ल भावों की सूक्ष्म छान-बीन करके प्रेष्य मनोविकारो की जटिलता से पाठक को सावधान करना चाहते हैं।

शुक्ल जी की विश्लेषण-बुद्धि बडी तीव्र थी। वे पहले भावो के स्वरूप को परिभाषाबद्ध करते हुए उनकी उत्पत्ति समझाते है—जैसे लज्जा की यह परिभाषा—"दूसरो के चित्त मे अपने विषय मे बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशका मात्र से वृत्तियो का जो सकोच होता है—उनकी स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं।" फिर भाव की उत्पत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करते है—जैसे लज्जा के कारण को स्पष्ट करने मे उनकी सूक्ष्म दृष्टि कि लज्जा मे हम अपने को दोषी समझें यह आवश्यक नही, दूसरा हमे दोषी समझे यह भी आवश्यक नही, आवश्यक है हमारा यह समझना कि दूसरा हमें दोषी या बुरा समझता होगा।" इसके बाद वे मिलती-जुलती वृत्तियो से तुलना करके भावो के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करते हैं। जैसे भय और आशका का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे कहते है—'दु.ख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी सभावना मात्र के अनुमान से जो आवेग शून्य भय होता है, उसे आशका कहते हैं। उसमे वैसी आकुलता नही होती। उसका सचार कुछ धीमा पर अधिक काल तक रहता है।" इसी प्रकार लज्जा के हल्के रूप को वे सकोच बताते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से घृणा और क्रोध म अन्तर बताते हुए वे कहते है—घृणा का भाव शात है, उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं है। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है तो क्रोध प्रवृत्ति का। × × × क्रोध का विषय पीडा या हानि पहुचाने वाला होता है, इससे क्रोधी उसे नष्ट करने मे प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इद्रिय या मन के व्यापार मे सकोच मात्र उत्पन्न करने वाला होता है, इससे मनुष्य को उतना उद्वग नहीं होता और वह घृणा के विषय की हानि करने मे तुरन्त बिना कुछ और विचार किए प्रवृत्त नही होता।" लोभ और प्रीति का अन्तर वे बडी बारीकी से स्पष्ट करते हैं—विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। × × लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।" प्रेम और श्रद्धा के सम्बन्ध मे उनका कथन है—प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमे अच्छा लगे—पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात म बढा हुआ होने से हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम मे घनत्व

कई बार शुक्ल जी अपने लोकादर्शवाद की स्थापना मे मनोवेगो के सम्बध मे एकतरफा फैसला दे देते है। 'श्रद्धा और भक्ति' मे वे श्रद्धा के बारे मे पहले स्पष्ट कहते हैं कि श्रद्धालु अपनी श्रद्धा द्वारा समाज का मगलसाधन करता है। किन्तु फिर भक्ति मे लोक-मगल की अधिक प्रतिष्ठा दिखाने के लिए, वे श्रद्धा के विरुद्ध एक तरफा फैसला करते दिखाई देते हैं। "श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अश के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं। श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है, पर भक्त उसकी काँट-छाँट मे लग जाता है'—आदि स्थापनाए पूर्ण रूप से मान्य नही हो सकतीं। इसी प्रकार 'करुणा' निबन्ध मे यह कथन—'यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्विक शील ही होता है' और 'किसी प्राणी मे और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती' आदि मान्यताए उनकी ही अन्यत्र अन्य स्थापनाओ के विरुद्ध पड़ती हैं, और सदोष हैं। सभवत वे यहाँ भूल गये कि भक्ति के आश्रय हनुमान जैसे भक्त और उत्साह के आश्रय क्षत्रिय-वीर को देखकर भी श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है, होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का भावनिरूपण पर्याप्त सूक्ष्म होते हुए भी पूर्णत निर्दोष और वैज्ञानिक नही है। 'भय', 'घृणा' और 'क्रोध' मे वह प्रौढता नही आ पाई, जो अपेक्षित थी। फिर भी इन निबधो की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनम मनोविज्ञान, साहित्य और नीति का त्रिवेणी-संगम बहुत भव्य है।

आगे हम शुक्ल जी के इन निबधो की सक्षिप्त व्याख्या तथा सार देंगे।

भाव तथा मनोविकार

हास और रुदन के रूप मे सुख और दु ख नाम की एक जोडी अनुभूति लेकर ही प्रत्येक प्राणी ससार में आता है। आरभ की ये दोनो सामान्य अनुभूतियाँ ही विभिन्न विषयो का ज्ञान होने पर भिन्न-भिन्न प्रसगो के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय आदि मनोविकारो के रूप मे परिणत होती हैं। बच्चे को साप से हानि का ज्ञान होने पर ही भय का अनुभव होता है। किसी वस्तु से ठोकर खाकर गिरने का हमारा सामान्य दु ख तभी क्रोध मे परिणत होगा, जब हम जान जायेंगे कि अमुक व्यक्ति ने जानकर वह वस्तु रास्ते मे डाली।

"ये भावानुभूतियाँ सुख दुख की मूल अनुभूतियो से वैसे ही भिन्न होती है, जैसे सयोजक द्रव्य परस्पर तथा अपने रासायनिक मिश्रण से।" भिन्न-भिन्न मनोविकारो का जन्म भिन्न भिन्न विषयो के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो के

रूप मे होता है। जैसे यदि दूर से हम शेर जैसे भयकर हानिकारक जानवर को आता देखेंगे तो केवल दुखी हो जाने मात्र से काम नही चलेगा, अपितु भय मनोविकार हमे भागने की प्रेरणा करेगा। यदि इष्ट-मित्र को आता देखेंगे तो उत्साहित-आनन्दित होगे, किन्तु केवल सुख का अनुभव करके ही नही रह जायेंगे, उत्साह के साथ आदर-सत्कार करेंगे, प्रेमालाप मे मग्न होगे आदि।

इस प्रकार सुख-दु ख की मूल अनुभूतियो से अनेक अनुभूतिया स्वतत्र रूप ग्रहण करती हुई भावात्मक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ के अनेक जाल बुनती हैं। अपने मूल रूप मे ये सुख और दु ख की अनुभूतिया बहुत कम अनुभावगत क्रियाओ को प्रकट कर सकती हैं, क्योकि अपने मूल रूप मे ये अबोध बालक की तरह हसा या रुला ही सकती हैं। प्रवृत्तिपरक क्रियाए और प्रयत्न विभिन्न विषयो का बोध होने पर विभिन्न भावो के ही आश्रय मे होते हैं। इच्छा या भाव के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नही कहला सकती।

शारीरिक रूप-चेष्टाओ से हम बहुत कम भावो को अच्छी तरह समझ सकते हैं। प्रवृत्ति या प्रयत्न के बिना निश्चित भाव का पता नही चलता। कम्प शीत, भय, क्रोध आदि कई कारणो से हो सकता है। भागना, छिपना या मारना आदि प्रयत्नो के द्वारा ही भाव के सही स्वरूप का पता लग सकता है। साहित्य मे ये प्रयत्न शब्द रूप म प्रकट होते हैं। वाणी के प्रसार की कोई सीमा नही। शारीरिक व्यापारो के रूप मे अनुभाव भावो को इतना स्पष्ट और व्यापक रूप प्रदान नही कर सकते। क्रोध के शारीरिक व्यापार तोडना, फोडना, मारना, पीटना इत्यादि ही हुआ करते हैं, पर क्रोध की उक्ति चाहे जहा तक बढ सकती है। किसी को धूल मे मिला देना, चटनी कर डालना, किसी का घर खोदकर तालाब बना डालना तो मामूली बात है।

"समस्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। लोक-रक्षा और लोक-रजन की सारी व्यवस्था इन्ही पर निर्भर है। इनका सदुपयोग भी हुआ है, दुरुपयोग भी।' लोक-कल्याण क लिए करुणा, वीरता, उत्साह आदि मनोविकार काम आते रहे हैं और धर्म शासक तथा राज शासक भी क्रमश स्वर्ग का लोभ, नरक का भय तथा पदवियो, धन आदि का लोभ और दण्ड का भय दिखा कर मनोवेगो से ही काम लेते हैं। कि तु वास्तव मे भाव क्षेत्र की पवित्रता को इस प्रकार अपने स्वार्थों के लिए गदा करना पाप कर्म ही है।

शासन की पहुँच बाहरी होती है, "सच्ची प्रवृत्ति और निवृत्ति को जगाने की शक्ति कविता मे ही है, जो धर्म क्षेत्र मे भक्ति भावना को जगाती है"— अर्थात् अच्छे और उच्च भावो के प्रति आस्था उत्पन्न करती है। "भक्ति धर्म की

रसात्मक अनुभूति है"— उच्च गुणों पर रीझने वाला भक्त धर्म का आनन्दमय अनुभव करता है। उच्च भावों अर्थात् धर्म के प्रति आस्था ही आत्म-कल्याण और लोक कल्याण के मार्ग को खोलती है। आत्म प्रसार के द्वारा ही शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध दृढ होता है। हम पशु-पक्षी, लता-गुल्म सब के कल्याण और रक्षा का भाव अपनाते हैं। कविता इसी भावात्मक आत्मप्रसार के लिए होती है।

उत्साह

साहसपूर्ण आनन्द की उमग का नाम उत्साह है। उत्साह मे कष्ट या हानि सहने की दृढता के साथ-साथ आनन्द-पूर्वक कर्म म प्रवृत्त होन की भावना रहती है। "कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।" कष्ट या हानि के भेद से उत्साह भी कई प्रकार का होता है—युद्धोत्साह, किसी विकट कर्म के करने, परम्परागत रूढियो क विरोध का उत्साह, दया-उत्साह, दानोत्साह आदि। कष्ट सहने मात्र क साहस म उत्साह नही होता, उसम आनन्दपूर्ण प्रयत्न की भावना अवश्य होनी चाहिए—जैस उफ ! तक किए बिना भारी फोडे का चिराना साहस मात्र है, उत्साह नही। दान वीरता मे सहर्ष दान देने के साथ कष्ट-सभावना भी जरूर रहनी चाहिए, क्योकि एक धन कुबेर का किसी को आनन्दपूर्वक दस रुपये दान कर देना उसे दानवीर नही बना सकता।

उत्साह का परिणाम शुभ होने से इसकी गिनती अच्छे भाव म होती है, परन्तु जब उत्साह व्यर्थ क अकतव्य कामा म दिखाया जाता है तो उसकी प्रशसा नही होनी। बहुत-से लोग समाज सुधार के नाम पर उत्साह का ढोंग भी रचते हैं। यह आवश्यक नही कि साहसपूर्ण विकट कर्मों मे ही उत्साह हो, किसी भी काम म आनन्दपूर्ण तत्परता उत्साह की द्योतक होती है। हम अपने किसी मित्र के स्वागत मे भी उत्साह दिखाते है। स्थायी भाव उत्साह मे तो अवश्य साहस, कष्ट या हानि का सहना और आनन्दपूर्ण प्रवृत्ति दोनो होने चाहिएँ किन्तु उत्साह भाव मे साहस का होना अनिवार्य नही।

कर्म म साहसपूर्ण और आनन्दमय प्रवृत्ति रखने वाले कर्मशील को कर्मवीर कहते हैं। जो व्यक्ति अपना बौद्धिक साहस और आनन्दमय प्रवृत्ति दिखाता है, उसे बुद्धि वीर कह सकते हैं—जैसे हमारे प्राचीन शास्त्रार्थ में रुचि रखने वाले पण्डित।

उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक कर्म मे रहता है, फल पर नही। युद्धवीर क उत्साह का विषय विजय विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। किसी व्यक्ति या वस्तु क साथ उत्साह का सीधा लगाव नही होता, यही कारण है कि

वीररस मे आलम्बन का स्वरूप इतना स्पष्ट और निर्दिष्ट नही होता जितना अन्य रसो मे। हनुमान जी के समुद्र लाँघने के उत्साह का कारण समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। अत कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नही।

कर्म का आनन्द तीन रूपो मे दिखाई पड़ता है—1 कर्म-भावना से उत्पन्न, 2. फल-भावना से उत्पन्न और 3 किसी अन्य कारण से प्राप्त। इनमे कर्म-भावना से उत्पन्न आनन्द को ही सच्चे वीरो का आनन्द समझना चाहिए, जिसमे साहस का योग अधिक रहता है। कर्मवीर फल की परवाह न करते हुए, निर्भय कर्मक्षेत्र मे कूदता है। कर्म-भावना प्रधान उत्साही सदा एक रस रहता है, वह असफलता मिलने पर भी हतोत्साहित नही होता। इसके विपरीत फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दु खी होता है। इसके साथ ही फल के लोभ की भावना मे फल की आशा-निराशा के अनुसार आनन्द बढ़ता-घटता रहेगा। अत कर्म-भावना का उत्साह ही सच्चा उत्साह है। वास्तव मे जब तक फल तक पहुँचाने वाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नही। फल की इच्छा मात्र हृदय मे रखकर जो प्रयत्न होगा वह निर्जीव-सा ही होगा।

'फलासक्ति से कर्म के लाघव की इच्छा उत्पन्न होती है।' यही भावना रहती है कि बहुत थोड़ा करना पड़े और फल अधिक मिल जाय। भगवान् कृष्ण के कर्म-मार्ग का उपदेश देने पर भी फलासक्त हिन्दू जाति इसी लिए अकर्मण्य बन गई। कर्म मे आनन्द अनुभव करने वालो ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के कर्मों के आनन्द का क्या कहना! कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते है। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए मन मे जो उल्लास तथा तुष्टि होती है, वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। असफल होने पर भी कर्मशील उत्साही को न तो अकर्मण्य की तरह दु ख होता है न पश्चात्ताप।

कभी-कभी आनन्द का कारण कुछ और होता है, किन्तु हम उत्साह एव स्फूर्ति कई कामो म दिखाते हैं। जैसे किसी की कोई बड़ी कामना पूरी होने पर वह इष्ट मित्रो को भोज देने म, दुखियो को दान देने मे बड़ा उत्साह दिखाता है। यह बात अन्य मनोविकारो के सम्बन्ध म भी सिद्ध होती है। जैसे क्रोध का कारण कुछ अन्य होने पर भी क्रोधी सब के साथ खीझ प्रकट करने लगता है। मिज़ाज की कैफियत का मनुष्य के व्यवहार मे बड़ा महत्त्व है, इसी लिए तो सलाम-साधक लोग हाकिमो से मिलने के पूर्व अर्दलियो से उनका मिज़ाज पूछ लिया करते है।

श्रद्धा-भक्ति

"श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ साथ पूज्य बुद्धि का सचार है।' किसी गुण सम्पन्न व्यक्ति के प्रति उसके गुणो के कारण, हमारे मन मे जो आनन्द की लहर दौड जाती है, जिसके कारण हम उसे अपने से महान स्वीकार करने लगते हैं, वही श्रद्धा है। जिन गुणो तथा कर्मों के कारण श्रद्धा होती है, वे लोक-कल्याण की दृष्टि से वाछित होते हैं। अत श्रद्धा मे लोक-कल्याण की भावना रहती है।

प्रेम और श्रद्धा मे अन्तर यह है कि प्रेम प्रिय के गुण और कामो पर उतना निर्भर नही। श्रद्धा गुणो के कारण ही होती है। "श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा मे विस्तार।" किसी व्यक्ति से प्रेम का भाव रखने वालों की सख्या एक-दो मे ही सीमित होगी, जबकि श्रद्धालु सैकडो हजारो हो सकते हैं। *'कर्त्ता से बढ़ कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं।'* श्रद्धेय व्यक्ति अपने सत्कर्मों द्वारा व्यापक रूप से सब के आकर्षण का एक शक्ति-केन्द्र बन जाता है। जिस समाज म ऐसी आदर्श विभूति होती है, उसम मगल की ऐसी वर्षा होती है कि प्रत्येक व्यक्ति का हृदय-परिष्कार हो जाता है।

हमारे हृदय मे प्रिय के आदर्श रूप की स्थापना केवल उसके बाह्य व्यक्तित्व से हो सकती है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का सघटन उसके कर्मों द्वारा ही होता है। प्रिय का चितन हम आख मूंदे हुए, ससार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चितन हम आँख खोले हुए, ससार का कुछ अश सामने रखकर अर्थात श्रद्धेय के लोकादर्शमय रूप को सामने रखकर करते हैं। **'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है"।** प्रेम मे कवल प्रेमी और प्रिय दोनो रहते हैं, श्रद्धा मे श्रद्धालु, श्रद्धेय और उसके गुण—तीन पक्ष होते हैं। श्रद्धा का कारण प्रेम की अपेक्षा बहुत स्पष्ट रहता है। प्रेमी अपने को प्रिय के साथ एकाकार करना चाहता है। वह अपने प्रिय का उठना बैठना, चलना-फिरना, पीना-खाना सम्पूर्ण जीवन-क्रम देखने का अभिलाषी होता है। इस प्रकार प्रेम मे व्यक्ति प्रधान है, श्रद्धा मे कर्म। श्रद्धा कर्मों के माध्यम से श्रद्धेय तक पहुचती है, प्रेम प्रिय को अपना कर फिर उसके कर्मों को देखता है। प्रेमी प्रिय पर अपना अधिकार चाहता है। किन्तु *श्रद्धालु श्रद्धेय पर कोई अधिकार की भावना नही रखता।* शुक्ल जी श्रद्धा को एक सामाजिक भाव मानते हैं। श्रद्धेय से हम अपनी श्रद्धा के बदले मे कोई बात नही चाहते। श्रद्धा मे व्यापकता है। जिसके प्रति हम श्रद्धा रखते हैं, हम चाहते हैं कि और लोग भी उस पर श्रद्धा रखें, पर प्रेमी ऐसा कभी नही चाहता कि उसके प्रिय के साथ कोई अन्य प्रेम करे।

श्रद्धा की उत्पत्ति तभी होती है जब हम किसी व्यक्ति के व्यापक गुणों का अनुभव करते हैं। व्यक्तिगत उपकार से कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता है, श्रद्धा का नही। श्रद्धालु श्रद्धेय को सामान्य रूप से उपकार और अच्छे काम करते देख कर उसके महत्त्व को स्वीकार करता है।

स्थूल रूप से शुक्ल जी श्रद्धा को तीन प्रकार की बताते हैं। 1. प्रतिभा-सम्बन्धिनी, 2. शील-सम्बन्धिनी और 3. साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

प्रातिभ व्यक्तियों के प्रति यदि समाज के कुछ लोग, गुण ग्राहकता की कमी के कारण, श्रद्धा न दिखाए तो उसे शुक्ल जी क्षम्य मानते हैं। समाज मे कला-मर्मज्ञता के प्रचार से यह स्थिति सुधर सकती है। परन्तु शील-सम्बन्धिनी श्रद्धा को वे प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य ठहराते हैं। प्रतिभा द्वारा उद्भूत कला आदि के सम्बन्ध मे तो रुचि-भिन्नता की भी बात कोई कर सकता है, परन्तु शील या धर्म का सामान्य रूप तो सर्वप्रतिष्ठित होता है। धर्म ही से समाज की स्थिति है। अत. समाज-विधायक धर्मस्वरूप कर्मों के प्रति श्रद्धा का भाव होना अनिवार्य है। **"श्रद्धा द्वारा हम यह आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं। अत श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए।"** इसके बाद वह प्रभावित होकर स्वय भी वैसे ही कार्य करके धर्म के दूसरे सोपान कर्म पर भी चढ सकता है।

साधन-सम्पत्ति की सम्पन्नता का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी और दुरुपयोग भी हो सकता है। इस सम्पन्नता से आचार्य का तात्पर्य है—विशेष साधन जैसे शारीरिक शक्ति, विशेष प्रयत्न अथवा योग्यता। शुक्ल जी सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से इस सम्पन्नता का मूल्याकन करते हुए देशी कारीगरी, सगीत, पक्का गाना, काव्य-चमत्कार आदि की अनुपयुक्तता के विचार प्रकट करते हैं।

भिन्न-भिन्न सस्कार के व्यक्तियों मे किसी विषय से सम्बन्धित श्रद्धा भिन्न-भिन्न मात्रा मे होती है। अपनी भावना के कारण कई बार किसी को अध श्रद्धा हो जाती है। शुक्ल जी ने ऐसी श्रद्धाधता को श्रद्धालु की मानसिक स्तब्धता कहा है। कालातर मे ऐसी श्रद्धाधता भी शील से आख मूदने और क्रियमाण रूप धारण करने पर समाज के लिए हानिकारक होती है—जैसे यदि कोई व्यक्ति किसी पहलवान के बल पर मुग्ध होकर, उसके गुण्डेपन को न देखता हुआ उसका वजीफा बाध दे, तो पहलवान के अत्याचारो का दोष उसे भी कुछ तो अवश्य लगेगा। उपर्युक्त प्रतिभा, शील और साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा के तीन रूपो म शील का सबसे पहले ध्यान होना चाहिए, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की स्थिति-रक्षा से है।

"दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यन्त वांछनीय वस्तु है, क्योंकि यह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है—जीवन की कठिनता कम होती है। जिस पर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं।"

बहुत से मनुष्य नाना प्रकार के ढोंग रचकर अपने प्रति पर-श्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र रंगता है, कोई देश-हितैषिता और सार्वजनिक उद्योगों का अपने नाम की भूख से आडम्बर रचता है। नक्ल करके बड़ा होने वालों पर शुक्ल जी व्यंग्य करते हैं—"मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से, कर्म से। इसमें से मन तो देखने-दिखाने की चीज नहीं। वाणी और कार्य-प्रणाली की नक्ल की जाती है, और बड़ी सफाई से की जाती है। हितोपदेश के गधे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं।"

"श्रद्धा न्याय-बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलड़े पर रखे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नहीं हो सकता।" श्रद्धावान श्रद्धेय से अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि नहीं चाहता। न ही बनावटी श्रद्धा नकली मोती या नक्ली घी की भांति बिक सकती है, आज के व्यापार युग की बात अलग है।

अपनी श्रद्धा द्वारा हम केवल श्रद्धेय को प्रसन्न करते हैं, उसका उत्साह बढ़ाते हैं, और इस प्रकार समाज का मंगल-साधन भी करते हैं, पर यदि हमारी श्रद्धा में याचकता का भाव हुआ, लाभ उठाने की वृत्ति हुई, तो वह श्रद्धा नहीं, खुशामद कहलाएगी। श्रद्धेय के सामने जाकर हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महाराज! मेरी यह श्रद्धा स्वीकार हो, हम घर बैठे भी श्रद्धा प्रकट कर सकते हैं। श्रद्धा प्रकट करने का हमें सामाजिक अधिकार प्राप्त है, अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं।

शील, प्रतिभा और साधन-सम्पत्ति से सम्बन्धित श्रद्धा से समाज की स्थिति, रंजनादि की रक्षा होती है। समाज भी इन गुणों से सम्पन्न श्रद्धेय की दानादि द्वारा रक्षा करता है। श्रद्धावश दिए हुए दान में सामाजिक उपयोगिता रहती है, दयावश दान में यह बात नहीं। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है, और दया असामर्थ्य के प्रति।

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" जब श्रद्धेय के प्रति पूज्यभाव के साथ-साथ प्रेम की घनिष्ठता भी स्थापित हो जाती है, और श्रद्धेय के सभी व्यवहारों और रूपों के प्रति मन आकृष्ट होता है, तब भक्ति-भाव का संचार होता है। अनन्य भक्ति में भक्त आत्मसमर्पण भी करता है, अपने देव के सामीप्य

की कामना रखता है और व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर होकर अपने जीवन का बहुतांश आराध्य को अर्पित करने के लिए तत्पर रहता है। इसे ही आत्मनिवेदन कहते हैं।

श्रद्धा द्वारा हम श्रद्धेय के महत्त्व के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं—जैसे राम की भक्ति करके हनुमान राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए। वास्तव में 'श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है।' इसी से आचार्य भक्ति के सामाजिक महत्त्व को और भी अधिक मानते हैं। गुरु गोविन्दसिंह का उदाहरण देकर शुक्ल जी स्पष्ट करते हैं कि गुरु महाराज ने जीवन-बलिदान कर देने वाले भक्तों के ही सहारे अत्याचार का दमन किया, न कि केवल दण्डवत् करने वाले और भेंट चढ़ाने वाले श्रद्धालुओं से।

"भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का सकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिसमें हमारे कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है। जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान अरुचिकर होगा वह सापेक्षिकता के भय से ऐसे महत्त्वादर्श का सामीप्य कभी न चाहेगा, दूर दूर भागा फिरेगा। 'हमींहम' वाले 'तुम भी' नहीं कह सकते, 'तुम्हीं तुम' की क्या बात है? ऐसे लोग तो स्वय अपने लिए भक्त ढूढने निकलते हैं। भक्ति के लिए दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है।"

"व्यक्ति-सम्बन्ध-हीन सिद्धान्त मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं।"—अर्थात व्यक्ति विशेष के आदर्शों का स्वरूप आखों के सामने होने पर ही सिद्धान्त और नीति की बातें मन को आकृष्ट करती हैं, शून्य, रूखे सिद्धान्त-वाक्यों में कोई आकर्षण या प्रवृत्त करने की शक्ति नहीं होती। "गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं। अनुभावात्मक मन को आकर्षित करने वाले आश्रय और परिणाम हैं, गुण नहीं। ये ही अनुभूति के विषय हैं। अनुभूति पर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है। अनुभूति मन की पहली क्रिया है, सकल्प विकल्प दूसरी। अत सिद्धांत-पथों के सम्बन्ध में जो आनन्दानुभव करने की बातें हैं, जो अच्छी लगने की बातें हैं वे पथिकों में तथा उनके चारों ओर पाई जायेंगी। सत्पथ के दीपक उन्हीं के हाथ में हैं, या वे ही सत्पथ के दीपक हैं। सत्त्वोन्मुख प्राणियों के लिए ऐसे पथिकों के सामीप्य-लाभ की कामना करना स्वाभाविक ही है।" श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधाभक्ति के अग भी सामीप्य के द्योतक हैं।

धर्म-विरोधी पापी को यदि खुले मैदान उसके पाप का फल मिल गया, तो उसका अस्तित्व भी समाजोपयोगी हो जाता है। यदि पापी पाप का फल एकान्त मे ही भोगे तो समाज को उसके जीवन से निवृत्ति का सबक नही मिल सकता। "पाप का फल छिपाने वाला पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी है" क्योंकि उसके पाप के प्रत्यक्ष होने पर यदि फल प्रत्यक्ष न हुआ, तो समाज को कोई शिक्षा नही मिलेगी, उल्टे उसकी न्याय-भावना को ठेस पहुचेगी। शुक्ल जी कहते हैं कि फिर भी "ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही—संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया।"

"यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किए जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर पर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो, पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किए हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।"

भगवद्भक्ति मे मनुष्य अपने ही उच्च भावो और आदर्शों की पूर्णता अपने आराध्य मे देखता है। *दया, धर्म, प्रेम, सत्य आदि की स्वानुभूति द्वारा ही वह* उस परमानुभूति की धारणा करता है। इसी धर्मानुभूति के अभाव मे कुत्ते आदि पशु प्रार्थना नहीं कर सकते। वास्तव मे जहा धर्म-भाव है वहीं ईश्वर की भावना हो सकती है। भक्ति हृदय की वस्तु है, अतः जब मानव भगवान मे अपने हृदयानुरूप पूर्णता पाता है, तो उसका हृदय भगवान के साथ तादात्म्य के लिए मचल उठता है। भगवान की लीलाओ का श्रवण, कीर्तन, स्मरण का सामीप्य-लाभ करता है। हर वर्ग हिन्दू-जाति अपने अवतारो की लीलाओ का अनुकरण तथा गान करती आई है। इससे जातीय सघटन को भी दृढ़ता मिली है। हमारे ये अवतार जीवन से दूर खड़े होकर उपदेश देने वाले नही थे, अपितु जीवन मे ही अपने कर्म-सौन्दर्य द्वारा धर्म की स्थापना करने वाले रहे हैं। इसी से हिन्दू-जाति भक्ति-भाव से गद्-गद् होती रही है, आदर्श पाती रही है।

'जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र-धर्म है।' कर्म-सौन्दर्य की नाना-रूपी योजना क्षात्र-जीवन मे ही सर्वाधिक होती है। कर्म-सौन्दर्य ही धर्म की स्थिति-रक्षा का द्योतक है। इसी से हमारे अवतार राम, कृष्ण क्षात्र धर्मी थे। शिष्टो का आदर, दीनों पर दया, दुष्टो का दमन *आदि लोकधर्म को*

इन सब बातो की मर्यादा रखने के लिए क्षात्र-धर्म-पालन की आवश्यकता संसार मे सब दिन बनी रहेगी।

करुणा

'जब बच्चे को सम्बन्धज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दु ख के उस भेद की नींव पड जाती है जिसे करुणा कहते हैं।' बच्चे के दिल मे भी अपने भाई-बहन को रोते देखकर सवेदना फूट पडती है।

'दु ख की श्रेणी मे प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है।' क्रोध के आलम्बन की हानि की चेष्टा की जाती है, करुणा के आलम्बन की भलाई का प्रयत्न किया जाता है। दूसरो के दु ख से दु खी होने म जितना रागात्मक प्रसार है, उतना दूसरो के सुख से सुखी होने मे नहीं। हम दु खी तो किसी अपरिचित मनुष्य के दु ख को देखकर भी होते हैं किन्तु सुखी हम केवल ऐसे आदमी के सुख को देखकर होगे, जो हमारा निकट सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शील-वान् और लोकोपकारी हो। हर व्यक्ति के सुख के साथ हम सुखी नही हो सकते। अत दूसरो के सुख से सुखी होने का भाव परिमित है। इसीलिए आनन्द का अलग मनोविकार के रूप म नामकरण नही हुआ। दु खी होने के भाव करुणा, दया आदि हैं।

'मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि सस्थापक यही मनोविकार है।" ससार मे सबका उद्देश्य सुख की स्थापना और दु ख को दूर करना ही रहता है। अत जिन कामो से दूसरों के दु ख की निवृत्ति हो, वे शुभ और सात्त्विक कर्म हैं। अन्त करण की जो प्रवृत्ति दूसरो के कष्ट-निवारण मे लगती है, वही सात्त्विक वृत्ति करुणा है। कृपा या दया मे भी दूसरो को दु खो से मुक्त करने की योजना रहती है, परन्तु दया या कृपा मे व्यक्तिगत लगाव किसी हद तक रहता है, जिसके कारण उसमे बदले की भावना छिपी रहती है। दूसरे, करुणा के आलम्बन को दु ख निवृत्ति की आवश्यकता कृपा-पात्र से अधिक है।

करुणा में हम दूसरो के दु ख दूर करने का प्रयत्न करते हैं, शील या सदाचार मे भी ऐसे कर्मो से बचते हैं जिनसे दूसरों को दु ख पहुंचने की सम्भावना हो। अत करुणा और शील-सदाचार का सम्बन्ध अटूट है। 'मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है।' अत मनुष्य के हृदय मे सात्त्विकता की ज्योति करुणा से ही जगती है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म म करुणा को बडी प्रधानता मिली है। 'करुणा और सात्त्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा उत्पन्न नहीं

होती । अत क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा आदि मनोवेगों में से करुणा ही, श्रद्धा का विषय होने के कारण, सात्विकता का आदि संस्थापक भाव ठहरा ।"

प्रिय के वियोग से उत्पन्न दु ख मे भी कई बार करुणा का पुट रहता है । इसी से हमारे रस-आचार्यों ने वियोग शृगार के अन्तर्गत करुण-विप्रलंभ को माना है । प्रिय के सुख का अनिश्चय, अनिष्ट की आशका, मिलन का अनिश्चय आदि भाव वियोग मे करुणोत्पादक है ।

"सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है ।" करुणा ही पारस्परिक सहायता के लिए प्रेरित करती है । यदि समाजशास्त्रियो की यह स्थापना मान ली जाय कि मनुष्य एक-दूसरे की सहायता अपनी रक्षा की भावना से करता है तो लोग मोटे, मुसटण्डे और समर्थ लोगो पर ही करुणा दिखाते, दीन-दुखियो पर नही । उल्टा हमारी करुणा निपट निस्सहाय असमर्थों के प्रति अधिक होती है ।

अपने परिचित व्यक्तियो के थोडे शोक विषाद पर जो वेग-रहित दुःख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं । आजकल कृत्रिम शिष्टाचार के तौर पर सहानुभूति के तार, चिट्ठियां लोग यो ही भेजा करते हैं । हृदय की सच्चाई से हम कुछ दूर जा रहे हैं ।

'करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र मे नहीं फेंकती है', अर्थात् जिस के प्रति करुणा होती है उसके हृदय मे करुणा करने वाले के प्रति करुणा नही जगती, कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रेम के भाव प्रकट होते हैं । क्रोध और प्रेम की तरह करुणा प्रेष्य भाव नही है । बहुत से उपन्यासो मे युवतियो के प्रेम का आधार उनके दुष्टो से उद्धार के रूप मे दिखाई गई करुणा ही होती है ।

"मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति मे, भावों की तत्परता मे, है । नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है । इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर जोर देते हैं ।" शुक्ल जी का कथन है कि वर्तमान भौतिक सभ्यता और जीवन-निर्वाह की कठिनाई के कारण आजकल मनुष्य के मनोवेग दबते जा रहे हैं । अपने ही स्वार्थों से बधे रहने के कारण उसका हृदय पर-दु ख-कातर नहीं होता, दयार्द्र नही होता, उसे दूसरो का दु ख दूर करने की फुर्सत ही नहीं । उसकी भावुकता नष्ट हो जा रही है ।

निरन्तर विपरीत प्रवृत्ति होने से भी मनोवेग दब जाता है । जैसे बार-बार क्रूर कर्म करने वाले व्यक्ति का धीरे-धीरे दया का भाव दबने लगेगा । प्राय. तीन

बातो से मनोवेग के अनुसार कार्य करने मे विवशता होती है—1. आवश्यकता, 2. नियम, 3. न्याय। अपने किसी अशक्त वृद्ध नौकर को हम, उसकी दशा पर दया होते हुए भी, कार्य की आवश्यकता के कारण हटाने पर विवश होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने नियम-पालन के ही लिए अपनी करुणा को दबाया। इसी प्रकार न्याय के आश्रय भी मनुष्य करुणा के अनुसार आचरण करने मे विवश हो जाता है।

लज्जा और ग्लानि

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज मे रहते हुए वह अपने बारे मे दूसरो की धारणा और विचार का बहुत ध्यान रखता है। यदि उसके मन मे हीन-भावना हुई, तो वह दूसरो के सामने लज्जा का अनुभव करेगा। **"दूसरों के चित्त मे अपने विषय मे बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उसे लज्जा कहते हैं।"** जिसे हमारी बुराई का पता हो, उसके सामने हमारी विचित्र दशा हो जाती है। हमारी चेष्टाए मन्द पड जाती हैं, हम जमीन मे गडे से जाते हैं, हम पर घडो पानी पड जाता है।

लज्जा में यह आवश्यक नहीं कि हम अपने को दोषी समझें या दूसरा हमे दोषी या बुरा समझे, बल्कि आवश्यक है हमारा यह अनुमान या समझना कि दूसरा हमे बुरा या तुच्छ समझता है। जिसके प्रति हमने बुराई की है, वह या अन्य जानकार व्यक्ति निन्दा करे या न करे, हम उसके सामने अवश्य लज्जित होंगे। निन्दा का भय लज्जा नही है, भय ही है। निन्दा सुनने से लज्जा का वेग बढ जाता है। कई बार निन्दा के स्थान पर प्रेम, सहिष्णुता या उपकार पाकर हमारी लज्जा का वेग और भी बढ जाता है, ऐसी दशा मे तो हम चल्लू भर पानी ढूढने लगेंगे। राम और लक्ष्मण जब वन से लौटकर कैकयी से मिले तो **"रामहिं मिलत कैकयी सकुचानी।"**

विशुद्ध लज्जा जहां दूसरो की भावना पर आधारित है वहां **"अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं।"** ग्लानि का अनुभव हृदय की सात्त्विक अवस्था मे होता है। यह अन्त करण की शुद्धि की द्योतक है। इसमे दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति नही रहती है। हम अपना मुह न दिखा कर लज्जा से बच सकते हैं, पर ग्लानि से नही। चारपाई पर, लिहाफ के नीचे भी लोग ग्लानि से गल सकते हैं।

बहुत से लोग अपनी बुराई से दूसरो को अनभिज्ञ रखते हैं, और इस प्रकार लज्जा से बच जाते है। **"पर अज्ञान, चाहे अपना हो चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता। बलिपशु होकर ही हम उसके आश्रय मे पलते हैं। जीवन के**

किसी अंग की वह रक्षा करता है, तो सर्वाङ्ग-भक्षण के लिए। अज्ञान अन्धकार-स्वरूप है। दीया बुझाकर भागने वाला यदि समझता है कि दूसरे उसे देख नहीं सकते, तो उसे यह भी समझ रखनी चाहिए कि वह ठोकर खाकर गिर भी सकता है।" "दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराई को नहीं। दूसरों से हम भाग सकते हैं, पर अपने से नहीं। जब अपने को हम अच्छे न लगने लगेंगे तब सिवा इसके कि हम अच्छे हों या अच्छे होने की आशा करें, आत्मग्लानि से बचने का और कोई उपाय न होगा।"

मनुष्य के स्वभावानुसार बुराई से बचाने वाले, शुक्ल जी तीन मनोविकार बताते हैं—सात्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्ति वालों के लिए भय। कई बार कोई व्यक्ति किसी कार्य को लोक-लाज के भय से नहीं करता। इस स्थिति में उसे दूसरों से फटकार सुनने की आशंका रहती है। 'आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है, इससे लज्जा की ही आशंका हो सकती है जिसका सम्बंध दूसरों की धारणा से होता है। ग्लानि की आशंका नहीं हो सकती।" क्योंकि उसमें अपनी ही धारणा प्रमुख है जिसमें निश्चय का भाव नहीं होता।

समाज में रहते हुए हम जितना अपने कर्मों पर लज्जा का अनुभव करते हैं, उतना ही अपने सम्बन्धियों के कार्यों पर तथा प्रसंगवश किसी बुरे या अनुपयुक्त कार्य में हमारा नाम आ जाने पर भी हमें लज्जा होती है। हम जब अपने प्रेम और प्रतिष्ठा का ह्रास देखते हैं और उसका समाधान हम किसी प्रकार नहीं कर सकते, तो ग्लानि से भर जाते हैं। भरत की ऐसी ही दशा हुई थी।

"उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी कड़वे फल पर।" इनमें एक अप्रिय फल अपमान है। अपमान से दुःख होने पर यदि हमें केवल अपने अपमान पर ही अफसोस हुआ, अपने दुष्कृत्य पर नहीं, तो वह दुःख या ग्लानि पश्चात्ताप की ग्लानि न होगी जिसमें हृदय की शुद्धि होती है।

अकारण अपमान पर होने वाली ग्लानि अपनी तुच्छता और असमर्थता के कारण होती है। शुक्ल जी लोक-व्यवहार की दृष्टि से मनुष्य के लिए इतनी शक्ति का संगठन अनिवार्य मानते हैं कि कोई उसका व्यर्थ अपमान न कर सके। *"जो संसार-त्यागी या आत्म-त्यागी हैं उनका विगतमान होना तो बहुत ठीक है, पर लोक-व्यवहार की दृष्टि से अनिष्ट से बचने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धृष्टों का मुंह—उनको वश करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वह हाथ छोड़ेंगे। असामर्थ्य हमें क्षमा या सहनशीलता का श्रेय भी पूरा-पूरा नहीं प्राप्त करने देगी।"*

लज्जा के एक हल्के रूप को, जो किसी काम को करने से पहले होता है, शुक्ल जी ने सकोच कहा है। बात-बात मे सकोच करते हुए लोग देखे जाते हैं—**"एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं।"** आन्तरिक प्रतिबन्ध होने के कारण आचार्य सकोच को शील का एक प्रधान अग मानते हैं। यह आभ्यन्तर प्रतिबन्ध दो प्रकार का हो सकता है—एक विवेचनात्मक जो प्रयत्नसाध्य होता है, दूसरा मन प्रवृत्त्यात्मक जो स्वभावज होता है। पहले मे बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है, किन्तु दूसरा मन का स्वतः प्रवर्तन है। आचार्य जी इसे ही सच्चा प्रतिबन्ध मानते हैं। सकोच का मूल आधार यह आशका है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं, वह दूसरो को अप्रिय तो न लगेगा। सकोच की अति भी व्यावहारिक दृष्टि से कार्य-बाधक होती है। **"न जाने हमारा व्यवहार दूसरों को कैसा लगेगा"**—इस बात का डर उन्हे लोगो के लगाव से ही दूर-दूर रखेगा। जो बच्चे बात-बात पर डाँटे-धिक्कारे जाते हैं वे बहुत लज्जालु बन जाते हैं। स्त्रियों मे पुरुषों से भी अधिक लज्जा इसी भय से होती है कि कही उनकी धृष्टता का परिचय पुरुषो को न हो जाए। पुरुषो ने उनकी लज्जा मे अपनी विलास-सामग्री पाई। काव्य मे मुग्धा और मध्या नायिकाओ के वर्णन का यही कारण है। इस प्रकार आचार्य एक ओर सकोच और लज्जा की अतिशयता को अव्यावहारिक बताते हैं, दूसरी ओर निर्लज्जता और सकोचहीनता को बुरा बताते हुए कहते हैं—**"यदि सबकी धड़क एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुह से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइशें करने लगें, उंगली का सहारा पानेवाले बांह पकड़कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे साथी बहरे हो जायें या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने लगें फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायें कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।"**

लोभ और प्रीति

लोभ मनोभाव की परिभाषा शुक्ल जी लिखते हैं—**"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, लोभ कहते हैं।"** किसी वस्तु के अभाव अथवा अभाव की कल्पना के बिना लोभ की सम्भावना नही होती। इसी से प्राप्त दशा मे सुखात्मक और अप्राप्त दशा मे दुखात्मक—ये दोनो पक्ष लोभ मे रहते हैं। "विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ ही वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति

या प्रेम कहते हैं। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कही कोई अच्छी चीज सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए दौड निकलना लोभ है, किन्तु किसी वस्तु से विशेष लगाव हो जाना चाहे उससे भी सुन्दर वस्तुएँ सामने क्यो न आएँ, उसी पर जमे रहना—प्रेम है। लोभ से किसी रुचिकर वस्तु के सुख का अनुभव होता है, अत लोभ आनन्दमूलक भाव है।

प्रत्यक्ष सुख और आनन्द देने वाली आकर्षक वस्तुओ का लोभ तो सीधा है, परन्तु "रुपये के रूप, रस-गध आदि मे कोई आकर्षण नहीं होता, फिर भी जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मास पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणत रुपये-पैसे का लोभी, धन का लोभी समझा जाता है। एक धातुखण्ड के गर्भ मे कितने प्रकार के सुख और आनन्द मनुष्य समझता है।" पर आजकल लोग सब प्रकार की कठिनाई सहकर, अपने सारे सुखो को तिलाजली देकर रुपये के पीछे पडे रहते है। ऐसे लोगो के लिए साधन ही साध्य हो गया है।

रुचिकर वस्तु की इच्छा दो प्रकार की होती है। 1 प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा 2. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। पहली इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है—1 इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो, 2 इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हो। प्रथम प्रकार की इच्छा का विरोध ही ससार मे होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति मे ही पारस्परिक स्वार्थों की टक्कर होती है। यदि समाज मे सब के लोभ भिन्न भिन्न वस्तुओ के प्रति हो, तो विरोध का प्रश्न ही नही रहता। जो लोभ दूसरो की सुख-शांति का बाधक होता है, वही निंद्य समझा जाता है। किसी उपवन की शोभा पर लुब्ध होने वाले की कौन निन्दा करेगा? सबके लोभ के लक्ष्य यदि भिन्न-भिन्न होते, तो असतोष ही ससार मे न फैलता। पर विनिमय की सुविधा के लिए मनुष्यो ने कुछ धातुओ मे ही सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित कर लिया और इसी से सबकी टकटकी टन की ओर लग गई।

लोभ के लक्ष्य की इस एकता से समाज म वैमनस्य वढा। 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बात पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं, वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। × × × राज-धर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका-धर्म हो गया।" व्यापार-नीति ही राजनीति का अग

बन गई। इसी से एक देश दूसरे देश को अपने व्यापार-लोभ या धन-लोभ के द्वारा नष्ट करना चाहता है।

अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ का द्योतक है, जो प्रेम की सीमा को पहुँचाता है। विश्वामित्र वशिष्ठ की एक गाय पर ऐसे मुग्ध हुए कि अपनी सब गायें क्या सारा राज-पाट बदले मे देने के लिए तैयार हो गए। जन्मभूमि-प्रेम, स्वदेश-प्रेम के मूल मे भी स्थान के लोभ की ही भावना रहती है। देश से सम्बन्धित वस्तुओ, स्थानो के प्रेम के बिना देश-प्रेम की सच्ची भावना नही मानी जा सकती। देश-प्रेम का दभ भरने वाले नकली देश-हितैषियो पर व्यंग करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि बिना परिचय का अर्थात् देश के लोगो के सुख-दु.ख का भागी बने बिना देश-प्रेम कैसा? **"रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार था पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों मे से कितने अपने किसी थके-मांदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझ कर या कम-से-कम न खीझकर, बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।"**

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के पश्चात् रक्षा की इच्छा पर विचार करते हुए शुक्ल जी उसे दो प्रकार की बताते है—1. अपने अधिकार में रखने की इच्छा 2 स्व-निरपेक्ष रक्षा की इच्छा, अर्थात केवल बने रहने देने की इच्छा। रक्षा की पहली इच्छा जहा अपने अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना मात्र रहती है, दूसरो की आंखो का काटा बन जाती है। इसके विपरीत लोभ का वह रूप जिसमें भाव केवल वस्तु के बने रहने तक सीमित रहते हैं, दूसरो को खटकने वाला नही होता और यही लोभ का प्रशस्त रूप है। **वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक-दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है।"** गृह-प्रेम, देश-प्रेम, जाति-प्रेम, विश्व-प्रेम इसी पवित्र लोभ के रूप हैं। घर के प्रेमी का भी विरोध दूसरे घरवालो से हो सकता है, इसी प्रकार देश-प्रेमी का दूसरे देश वालो से, किन्तु **"जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव भेदकर अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुची हुई होती है वे सारे ससार की रक्षा चाहते हैं।"** ऐसे लोग विरोध के परे हैं। सच्चे लोभ मे वस्तु की रक्षा का ध्यान रहता है।

यह हुआ लोभ का व्यापक रूप। अपने सकुचित अर्थ मे वह धन-लोभ से ही सम्बन्धित है। अपने जीवन-निर्वाह के कष्ट-निवारण के लिए जो धन का लोभ करते है, उन्हे लोभी नही कहा जा सकता। **"जिन्हें पेटभर अन्न नहीं मिलता,**

जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहें वे बड़े लोभी और बड़े क्रूर हैं।"

"धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुचती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्राय वहां समझा जाता है जहां और मनोवृत्तियां दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है।" लोभ स्वविषयान्वेषी होता है—अर्थात् जिस वस्तु के प्रति लोभ किया जाता है, उसे पाकर लोभी अपनी लोभ-भावना को नही छोडता। वह या तो और प्राप्ति का लोभ करेगा या उसे ही सभाल कर रखने मे प्रवृत्त होगा। इस प्रकार अपने विषय को लोभ छोडता नही। इसी कारण लोभी की अन्य वृत्तियो के मारे जाने की अधिक सम्भावना होती है। स्थूल रूप से उद्धत लोभ के दो उग्र लक्षण शुक्ल जी बताते हैं—1 असन्तोष, 2 अन्य वृत्तियो का दमन। धन का लोभ जब मानसिक रोग बन जाता है तब प्राप्ति होने पर भी मनुष्य और प्राप्ति के लोभ मे फँसा रहता है। वह असतोषी बन जाता है। प्राप्त धन के सुख-आनद से विमुख रहता है। "असन्तोष अभाव-कल्पना से उत्पन्न दुख है। अत जिस किसी मे यह अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है, सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है।" लोभी का असतोष ऐसा ही होता है। लोभ-व्यसनी की अन्य वृत्तिया दबने लगती हैं।

लोभियो पर व्यग्य करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि "लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान अपमान मे समान भाव रखते हैं। जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालिया भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का चिन्ह होता है, न मन में ग्लानि। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जायें ? जिस बात मे कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं—चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुख प्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अकुश से अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश मे रखते हैं। लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है ! तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय हैं। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !"

"पक्के लोभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं।" क्रोध, करुणा आदि अन्य वृत्तिया पक्के लोभियो को नहीं डिगा सकती।

शुक्ल जी मूल रूप म लोभ और प्रेम दोनो को एक मानते हैं। अग्रेजी शब्द

'लव', सैक्सन 'लुफु' और लैटिन के लुवेत (Lubet) आदि शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत की 'लुभ्' धातु से जोड़ते हुए वे इस बात की पुष्टि करते हैं। पर साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की ललक को 'लोभ' और व्यक्ति के प्रति ललक को 'प्रेम' कहा जाता है।

व्यक्ति के प्रति प्रेम में विलक्षणता का कारण दोनों पक्षों में हृदय और मनस्तत्त्व का विधान है। मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना आन्तरिक, गूढ़ और व्यापक प्रेम हो सकता है, उतना किसी वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-प्रेम एकांगी होता है। व्यक्ति के प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक-दूसरे की ओर खिंचते हुए मिल जाते हैं। वस्तु-प्रेम में यह हृदय मिलन की बात कहां ? इस हृदय-मिलाप के लिए ही प्रेमी प्रिय का अपना प्रेम जताना चाहता है। दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस, एक अद्भुत सजीवता आ जाती है। प्रिय के आनन्द में ही प्रेमी अपना आनन्द ढूंढता है।

प्रेम दो रूपों में होता है—ऐकान्तिक और दूसरा लोकबद्ध। ऐकान्तिक प्रेम में कर्मक्षेत्र से दूर दो व्यक्तियों का ही संसर्ग रहता है। इसमें प्रिय-पक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य पक्षों से विराग की भावना लाता है। भक्ति में ऐसा ही ऐकान्तिक प्रेम रहता है। फारसी साहित्य तथा भारतीय साहित्य में गोपियों का प्रेम ऐसा ही है। प्रेम के दूसरे रूप में जीवन-यात्रा का पथ विस्तृत रहता है। ऐसे प्रेमपथी को प्रेम के दिव्य प्रभात से "अपने आसपास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौन्दर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत के बीच दिखाना चाहता है।" भारतीय प्रबन्ध-काव्यों में इसी जीवन-बद्ध प्रेम का चित्रण किया गया है। राम और सीता का प्रेम महलों तक सीमित न होकर जीवन के विस्तृत कर्मक्षेत्र में दिखाई देने वाला है। भगवद्भक्ति के लिए भी आचार्य इसी प्रेम को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कहना है—"भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जबकि प्रिय के सम्बन्ध से न जाने कितनी वस्तुएं प्रिय हो जाती हैं, तब उस परम प्रिय के सम्बन्ध से सारा जगत प्रिय हो सकता है। भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत आ जाता है। जो भक्त इस जगत को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान के लोक-पालक और लोक-रंजन स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलाएगा कि चारों ओर से खींच लेगा ? हम तो जगत के बीच हृदय के सम्यक प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं, क्योंकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।"

प्रेम की जागृति हो सकती है, उसी प्रकार किसी व्यक्ति के प्रति हमारी घृणा उसके हृदय में भी हमारे प्रति घृणा का भाव जगा सकती है। प्रेम्य मनोवेग बल्कि यह सयोग पाकर और भी बढ़ जाते हैं। घृणा से घृणा जगती है और बढ़ती रहती है। अत आचार्य पाठक को सचेत करते हैं कि समाज हित और व्यक्ति-हित आदि को ध्यान में रख कर सावधानी से घृणा का भाव अपनाना चाहिए।

'घृणा का उद्देश्य, जिसके हृदय मे वह उत्पन्न होती है उसी की क्रियाओं को निर्धारित करना है, जिसके प्रति उत्पन्न होता है उस पर किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं।' इसीलिए जिसके प्रति घृणा होती है, उसके पास जाकर यह नहीं कहा जाता—हमें तुमसे घृणा है। जब घृणा म करुणा, क्रोध या हित-कामना आदि का कुछ मेल रहेगा तभी घृणा पात्र के सामने प्रकट होगी। करुणा और क्रोध-मिश्रित घृणा का भव्य उदाहरण आदि कवि वाल्मीकि के श्लोक—'मानिषाद'—म मिलता है।

भय और घृणा दोनो की प्रवृत्ति एक सी है। भय की तरह घृणा म भी विषय से बचा जाता है। किन्तु दोनों मे अन्तर है। घृणा का दु ख एक ही अर्थात स्थायी रहता है, किन्तु भय मे आशका बढने की रहती है। भय म हानि का डर अधिक रहता है। शिष्टता के कारण कई बार घृणा को उदासीनता क रूप म भी प्रकट किया जाता है। पर दोनो म भेद स्पष्ट है। घृणा के विषय को हम बिल्कुल नहीं चाहते पर उदासीनता म हम परवा नहीं रहती, वह विषय रह चाहे न रह। कई बार अरुचिकर घृणा के विषय को इन शब्दो म प्रकट किया जाता है 'उहूँ! हमें क्या, हमारी बला से, जो चाहे सो हो।'

ईर्ष्या

अपने बराबर वालो के सुख या भलाई को देखकर किसी के हृदय में जो दु ख हुआ करता है उसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या एक सकर भाव है, जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। इसमे वस्तु का अभाव अधिक खटकता है, प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नहीं होती। अभाव का दु ख व्यक्ति म तीन प्रकार में प्रकट होता है—1 क्या कहूँ हमारे पास भी वह वस्तु होती, 2 हाय! वह वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती तो अच्छा था! 3 वह वस्तु किसी प्रकार उसके हाथ से निकल जाती, चाहे जहा जाती। इन तीनों अवस्थाओं मे लक्ष्य क्रमश वस्तु से हटकर व्यक्ति की ओर बढ़ता गया है। पहले वाक्य म ईर्ष्या के स्थान पर स्पर्द्धा का भाव ही है। उसम वस्तु की ओर ही लक्ष्य है, व्यक्ति की ओर नहीं। 'ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत।"

स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेग-पूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है, जो मनुष्य को अपने उन्नति-साधन में तत्पर करती है। × × × स्पर्द्धा में दुख का विषय होता—है "मैंने उन्नति क्यों नहीं की ?" और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है—'उसने उन्नति क्यों की ?' स्पर्द्धा संसार में गुणी और सुखी लोगों की संख्या में वृद्धि करना चाहती है, और ईर्ष्या कमी। ईर्ष्या एक अनुपयोगी मिश्रित भाव-विकार है, इसलिए शुक्ल जी उसकी गणना मूल मनोविकारों में नहीं करते। इसमें अपनी अयोग्यता या आलस्य के कारण यह इच्छा होती है कि किसी व्यक्ति विशेष की स्थिति हमारे तुल्य या हमसे बढ़कर न होने पाए। यही इच्छा द्वेष का रूप ले लेती है। "वैर और इस द्वेष में अन्तर यह है कि वैर अपनी किसी वास्तविक हानि के प्रतिकार में होता है, पर द्वेष अपनी किसी हानि के कारण या लाभ की आशा से नहीं किया जाता।"

"ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है" जो अपने बराबर वालों अर्थात उन व्यक्तियों के प्रति प्रकट होता है जो समाज में हमारे साथ ही देखे और परखे जाते हैं, जिनकी स्थिति का मिलान हमारे साथ होता है।

"समाज में पड़ते ही मनुष्य देखने लगता है कि उसकी स्थिति दोहरी हो गई है। वह देखता है कि "मैं यह हूं" और "मैं यह समझाता हूं"—इस दोहरेपन से उसका दुःख भी दोहरा हो जाता है और सुख भी" शक्ति-शाली और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति यह विचार न कर केवल यही सोचते हैं कि 'हम ऐसे समझे जायें। संसार में दुर्बल प्रकृति के व्यक्ति प्रथम प्रकार से ही विचार करते हैं। ऐसे लोगों में ही ईर्ष्या अधिक उत्पन्न होती है।

ईर्ष्या केवल अभाव के कारण ही नहीं होती। अहंकारवश जब हम अपने जैसी स्थिति किसी दूसरे की देखना नहीं चाहते, तब भी ईर्ष्या होती है। "न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंट जोड़ता है। समाज-कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है।" इस प्रकार आचार्य अभिमान और छोटे-बड़े की भावना का समाजहित के लिए खण्डन करते हैं—"अधिकार सम्बन्धी अभिमान अनौचित्य की सामर्थ्य का अधिक होता है। यदि अधिकार के अनुचित उपयोग की सम्भावना दूर कर दी जाय तो स्थान-स्थान पर अभिमान की जमी मैल साफ हो जाय और

समाज के कार्य-विभाग थमक जायँ।" अहंकार के कारण ही व्यक्ति दूसरों में घटकर मान, गुण या बल देखना चाहता है, और दूसरों को ये प्राप्त करते देख कुढ़ता है, ईर्ष्या करता है। अत 'अभिमान' हर घड़ी बड़ाई की भावना भोगने का दुर्व्यसन-सा है, और ईर्ष्या उसकी सहगामिनी है।'

ईर्ष्या मे दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा रहती है। यह इच्छा यदि किसी हानि के बदले म अथवा अनिष्ट की आशका से होती है, तो वह शुद्ध ईर्ष्या नही कही जा सकती, क्रोध-मिश्रित होगी या क्रोध अथवा वैर के अन्तर्गत आएगी। यदि हानि पहुँचाने वाले किसी अत्याचारी को हम अधिकार प्राप्त करते देखकर कुढ़ते हैं तो केवल अपना या समाज का बचाव चाहने के लिए। शुक्ल जी इसी लिए अभिमानियो से कुढ़ना, ईर्ष्या करना सब का अधिकार बताते हैं। "अभिमान-ग्रस्त गुण को लोग देख कर भी नही देखते हैं। अभिमानी स्वय अधा हो कर दूसरो की आँखें भी फोड़ता है। न उसे दूसरो के उत्कृष्ट गुण की ओर ताकने का साहस होता है और न दूसरों को उसके गुण स्वीकार करने की उत्कठा होती है। अभिमान दोनो ओर ज्ञान का निषेध करता है।"

उपर्युक्त प्राप्ति-अप्राप्ति के आधार पर ही आचार्य शुक्ल ईर्ष्यालुओ के दो रूप बताते हैं— एक असम्पन्न और दूसरा सम्पन्न। "असम्पन्न रूप वह है जिसमे ईर्ष्या करने वाला दूसरे को ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दु खी होता है जो उसके पास नहीं है। ऐसे दु ख मे आलस्य या असामर्थ्य से उत्पन्न नैराश्य, दूसरे की प्राप्ति से अपनी सापेक्षिक छोटाई का बोध, दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा और अन्त मे इस इच्छा की पूर्ति मे बाधक उस दूसरे व्यक्ति पर एक प्रकार का मीठा क्रोध, इतने भावो का मेल रहता है।" ईर्ष्या मे क्रोध का भाव कुछ कुछ मिला रहता है, जो सचारी रूप मे ईर्ष्यालु की रोषयुक्त उक्तियों द्वारा समय समय पर व्यक्त होता हुआ दिखाई देता है। किन्तु यह क्रोध होता है बिल्कुल जड अर्थात् इसमे क्रोध के आलम्बन पर विचार नही किया जाता।

अब सम्पन्न दशा की ईर्ष्या देखिए। "सम्पन्न दशा वह है जिसमें जो वस्तु हम प्राप्त है उसे दूसरे को भी प्राप्त करते देख हमे दु ख होता है। असम्पन्नता मे दूसरे को अपने से बढ़कर होते देख दु ख होता है। सम्पन्न की ईर्ष्या मे आकाक्षा बढ़ी-चढ़ी होती है, इससे उसका अनौचित्य भी बढ़कर होता है। असम्पन्न की ईर्ष्या मे नैराश्य का भाव और अपनी कमी का दु ख रहने के कारण कलुषता और क्षुब्धता इतनी तीव्र नही होती जितनी सम्पन्न ईर्ष्यालु की ईर्ष्या मे।"

शुक्ल जी का कथन है कि ईर्ष्या नि स्वार्थ होनी चाहिए—अर्थात् अपनी किसी हानि का दु ख ईर्ष्या नही होता। यदि किसी गाँव के पहले वैद्य को दूसरे

वैभव के आगमन से आय में कमी हो जाय तो पहले का दूसरे की बढ़ती पर कुढ़ना शुद्ध ईर्ष्या नहीं है, हानि का दुःख है, जिसे शुक्ल जी झुंझलाहट कहते हैं।

ईर्ष्या जनित दुःख का कोई परिणाम नहीं निकलता। अतः वह निष्फल जाता है। 'ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है। उसमें वह वेग नहीं होता जो क्रोध आदि में होता है, क्योंकि आलस्य और नैराश्य के आश्रय से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है।" ईर्ष्यालु हाथ पर हाथ रखे बैठता है। जो अपनी उन्नति में प्रयत्नशील है, उसे ईर्ष्या से क्या प्रयोजन? "ईर्ष्या की सबसे अच्छी दवा है उद्योग और आशा।"

ईर्ष्या अप्रेष्य मनोविकार है, जिसके बदले में उससे भी अनिष्टकारी मनोविकार घृणा अथवा क्रोध मिलता है। 'ईर्ष्या एक ऐसी बुराई है जिसका बदला यदि मिलता है, तो कुछ अधिक ही मिलता है। इससे इस बात का आभास मिलता है कि प्रकृति के कानून में ईर्ष्या एक पाप या जुर्म है।" अपराधी को उसके अपराध से अधिक दण्ड या कष्ट पहुँचाना ही न्याय है।

"ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है।" यह अपने ईर्ष्यालु स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती। और भावों के लक्षण प्रकट होते हैं, पर ईर्ष्या के नहीं। इसे कभी कोई स्वीकार नहीं करता, उलटा इसे दूसरे भावों के पर्दे में छिपाना चाहता है।

भय

किसी संकट की संभावना से जो एक आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भकारक मनोविकार होता है, उसे भय कहते हैं। भय में दुःख या संकट का कारण क्रोध की तरह निर्दिष्ट नहीं होता। 'भय का विषय दो रूपों में सामने आता है—असाध्य रूप में और साध्य रूप में।' असाध्य विषय वह है जिसका प्रयत्न द्वारा निवारण न हो सके, और जिस भय को प्रयत्न से दूर किया जा सके वह साध्य विषय है। साहसी व्यक्ति को असाध्य विषय भी साध्य-सा प्रतीत होता है।

'भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता या भीरुता कहलाता है।' भीरुता में कष्ट सहने की अक्षमता तथा अपनी शक्ति पर अविश्वास, ये दो बातें रहती हैं। 'एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखाई पड़ती है जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्म-भीरुता है। पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं समझते। धर्म से डरने वालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होने वाले हमें अधिक धन्य जान पड़ते हैं। जो किसी बुराई से यही समझ कर पीछे हटते हैं कि उसके करने से अधर्म होगा उनकी अपेक्षा वे कहीं श्रेष्ठ हैं जिन्हें बुराई अच्छी ही नहीं लगती।"

भय में आपत्ति का निश्चय रहता है। किन्तु जब पूर्ण निश्चय न होने पर केवल दुःख की सम्भावना के अनुमान से आवेगशून्य भय का अनुभव होता है, वह आशंका कहलाता है। उसमें वैसी आकुलता नहीं होती, उसका संचार कुछ धीमा किन्तु अधिक काल तक रहता है। घने जंगल से जाता हुआ यात्री किसी शेर की आशंका मन में लिए हुए सारे रास्ते को पार कर सकता है, पर शेर के दिखाई देने पर वह भयभीत होकर या तो वापिस लौटेगा या छिपने का प्रयत्न करेगा। शुक्लजी दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति मानते हैं जो सुखात्मक भावों में आशा की है।

जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक और स्थायी होता है। जिससे वे भयभीत हो सकते हैं, उसी को श्रेष्ठ मान उसकी स्तुति या पूजा करने लगते हैं। अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं। बच्चों और पशुओं में भी भय अधिक होता है। आचार्य का कथन है कि अपरिचित व्यक्ति से डरने की प्रवृत्ति सबमें रहती है। आज के वैज्ञानिक युग में ज्ञानबल, हृदयबल और शरीरबल की वृद्धि के द्वारा मानव भूतप्रेत और पशु आदि के भय से तो मुक्त होता जा रहा है, पर आज मनुष्य को मनुष्य से विशेष खटका लगा हुआ है। "अब मनुष्यों के दुःख के कारण मनुष्य ही हैं। सभ्यता से अन्तर केवल इतना ही पड़ा है कि दुःख दान की विधियाँ बहुत गूढ़ और जटिल हो गई हैं।" हम जबरदस्ती लूटने-पिटने का डर तो अब नहीं रहा पर धोखे और प्रवंचना से हानि की आशंका रहती है। जब व्यक्ति के स्थान पर किसी जाति या संघ से हानि का भय उपस्थित हो जाता है, तो बड़ा अनर्थकारी होता है। क्योंकि संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है।" शुक्ल जी योरोप के देशों के राजनीतिक उद्धरणों द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार इस संघ शक्ति द्वारा एक देश दूसरे को भयभीत करता है। 'सबल और सबल देशों के बीच अर्थ-संघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है, एक क्षण का विराम नहीं है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है।"

निर्भयता की स्थिति की सम्प्राप्ति व्यक्ति और समाज दोनों के लिए आवश्यक है, यह सबका अधिकार है। इसके लिए दो बातें चाहिए एक तो हमसे कोई आतंकित न हो, दूसरे हम कष्ट पहुँचाने और भयभीत करने का किसी को साहस न हो। पहले में शील चाहिए, दूसरे में शक्ति। इस स्थिति के सम्पादन के लिए क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

क्रोध

दु ख के कारण की स्पष्ट धारणा से क्रोध उत्पन्न होता है। जब तक बच्चे को दु ख और उसके कारण का बोध नही होता, तब तक उसमे क्रोध उत्पन्न नही होता। 'सामाजिक जीवन मे क्रोध की जरूरत बराबर पडती है।' क्रोध से ही दुष्टो की कुवृत्तियो का सामना किया जा सकता है।

कष्ट पहुचाने वाले उस व्यक्ति को, जिससे फिर कष्ट पाने की सम्भावना न हो, जब बदले मे कष्ट पहुचाया जाता है, उसे प्रतिकार कहते हैं। इसमे स्वरक्षा की भावना नही होती। व्यावहारिक जीवन मे अधिकतर क्रोध प्रतिकार के रूप मे ही व्यक्त होता है।

क्रोध अधा होता है। क्रोधी का लक्ष्य एकदम आलम्बन को हानि पहुचाना होता है। बहुत बार क्रोध के वेग मे मनुष्य धोखा खा जाता है। वह उचित-अनुचित का विचार करने को बिल्कुल नही ठहरता। क्रोध के वेग मे वह अपने कार्य के परिणाम को भी नही देखता।

'क्रोध की उग्र चेष्टाओ का लक्ष्य हानि पहुचाने के पहले आलम्बन में भय-सचार करना रहता है।' यदि क्रोध पात्र डरकर पश्चात्ताप करे, तो क्रोध क्षमा मे बदल सकता है। कई बार क्रोध केवल किसी का गर्व चूर करने के लिए किया जाता है। इस रोष मे अभिमानी को हानि पहुचाने की बजाय केवल झुकाना उद्देश्य रहता है।

अपने सम्बन्धियो के साथ लडने मे कभी कभी अपना ही सर फोड लिया जाता है। उसमे भी उद्देश्य क्रोध पात्र और अपने सम्बन्धियो को ही दु ख पहुचाना होता है।

"क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है, इसी से अवसर पडने पर यह और मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। कभी यह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के।" अत्याचारी पर क्रोध करके हम उत्पीडित अबला पर दया दिखाते है। ऐसी अवस्था मे कहा जाता है कि उसने दया कर अबला को बचा लिया। काम क्रोध करता है, पर नाम दया का होता है।

क्रोध शान्ति भग करने वाला मनोविकार है। क्रोध से दूसरे मे भी क्रोध का सचार होता है। क्रोध के अधेपन और वेग के कारण ही धर्म, नीति और शिष्टाचार मे उसके निरोध का उपदेश है। एक सीमा तक यह समाज की सुख-शान्ति के लिए आवश्यक भी है। 'क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों मे जिसे अति से सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढग बताने वाला चाहे कड़े

पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर धन के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे मे भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा।"

क्रोध अपने दु ख से भी उत्पन्न होता है, और दूसरे के दु ख से भी। पहले प्रकार के क्रोध के त्याग का ही उपदेश दिया जाता है। "क्रोधोत्तेजक दु ख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा उतना ही लोक मे क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा।"

"यह (निर्विशेष) क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप मे हमारे सामने आता है। स्वामी से सेवक कुछ कठिन होते ही हैं, उनमे कुछ अधिक कठोरता रहती है। पर यह कठोरता ऐसी कठोरता को भग करने के लिए होती है जो पिघलने वाली नहीं होती। क्रौंच के वध पर वाल्मीकि मुनि के करुण क्रोध का सौन्दर्य एक महाकाव्य का सौन्दर्य हुआ।' राम के क्रोध मे भी प्राणिमात्र के दु ख का क्षोभ है।

'दण्ड कोप का ही एक विधान है। राजदण्ड राजकोप है, राजकोप लोककोप और लोककोप धर्मकोप है। राजकोप धर्मकोप से जहा एकदम भिन्न दिखाई पड़े वहां उसे राजकोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यो का कोप समझना चाहिए।'

'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।" यदि क्रोध बहुत दिन तक हृदय म टिका रहे तो वैर बन जाता है। वैर वृत्ति मे क्रोध मनोविकार जैसा वेग तो नही होता, पर स्थायित्व अधिक होता है। वैर अधिकतर उन्ही प्राणियो म होता है, जो भावो को सचित कर हृदय म पालते हैं। पशु और बच्चे वैर नही पालते वे थोडी देर क्रोध करते है और भूल जाते हैं।

क्रोध का एक हल्का रूप चिडचिडाहट है। यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसी से बच्चो और बुड्ढो म अधिक पाई जाती है। वेग रहित होने के कारण यह विनोद की सामग्री (जैसे बच्चो को बूढा के चिढाने म मजा आता है) भी उपस्थित करती है।

पूर्ण क्रोध के पूर्व की ऐसी स्थिति, जिसम पात्र को हानि पहुचाने की अपेक्षा दु ख के कारण और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है, वह अमर्ष कहलाती है।

-००

6

सिद्धांत-समीक्षा-सम्बंधी निबंध

शुक्ल जी की साहित्य-सिद्धान्त निरूपिणी शक्ति पर हम आगे उनके आलोचक रूप की मीमांसा में विस्तृत प्रकाश डालेंगे, यहाँ केवल इतना जान लेना पर्याप्त है कि साहित्य-सिद्धान्तों के निर्माण में भी शुक्ल जी का महत्त्व अक्षुण्ण है। हिन्दी साहित्य में सैद्धान्तिक-समीक्षा का प्रचलन यद्यपि रीतिकाल में ही हो गया था, किन्तु उस युग के आचार्यों का चिंतन स्वाधीन नहीं था। उनका प्रयास संस्कृत-आचार्यों का अनुकरण मात्र था। न उन्होंने साहित्य की अनेक नई-नई समस्याओं को उठाया, और न परम्परागत काव्य-दृष्टि का ही वैज्ञानिक और सुलझा हुआ विवेचन प्रस्तुत किया। भारतेन्दु युग में काव्य-शास्त्र पर विशेष लिखा ही नहीं गया। द्विवेदी युग में भी काव्य सिद्धान्तों पर जो निबन्ध लिखे गए, उनमें प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्रियों के ही परम्परागत मतों का अनुगमन हुआ, मौलिक और स्वाधीन चिंतन उनमें भी नहीं मिलता। वास्तव में शुक्ल जी हिन्दी के पहले समालोचक हैं, जिन्होंने भारतीय-पाश्चात्य सभी विचारों की पराधीनता से मुक्त रहकर हिन्दी साहित्य में समीक्षा का स्वतंत्र पथ निर्मित किया। इस क्षेत्र में उनकी मौलिक देन भी कम महत्त्व नहीं रखती। उनके निबंधों में चिंतन की गहराई अपूर्व है। शुक्ल जी ने काव्य का एक उच्च स्तर और मानदण्ड निर्धारित किया। उसे भावयोग मानकर ज्ञानयोग के समकक्ष प्रतिष्ठित किया और युग-युग तथा देश-देश में मानव जीवन के लिये उसकी उपयोगिता को प्रमाणित किया। साथ ही काव्यानन्द के ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की व्याख्या की, और प्रत्यक्ष जीवन से उसका सम्बंध सिद्ध किया। रस-सिद्धान्त को उन्होंने नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति देकर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, प्रकृति को एक नवीन रूप में देखा तथा साधारणीकरण की समस्या को सुलझाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उनकी रस-ग्राहिणी दृष्टि ने भारतीय एवं पाश्चात्य सभी अतिवादों की निरंकुशता पर पहरा बैठाया—जैसे अलंकारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि तथा पाश्चात्य कलावाद, कल्पनावाद, स्वप्नवाद, अभिव्यंजनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद आदि। उनकी कुछ स्थापनाओं से किसी का मतभेद हो सकता है—जैसे उनके सगुणवाद, लोकवाद, वस्तुवाद, प्रकृति के केवल कोमल और सुन्दर रूपों का चित्रण करने वालों को तमाशबीन कहना, रहस्यवाद के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण, प्रबन्ध काव्य को मुक्तक

और गीति से श्रेष्ठ बताना आदि, किन्तु उनके स्वाधीन चिंतन और निष्पक्ष मत-स्थापन की शक्ति पर किसी को संदेह नहीं हो सकता। उनके इन निबंधों में सबसे बड़ी विशेषता है—उनका अडिग आत्मविश्वास। अपने सिद्धांतों और मान्यताओं पर वे इतने दृढ़ और अटल हैं कि पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

शुक्ल जी सब प्रकार की गुलामी से साहित्यिक गुलामी को अधिक खेदजनक समझते थे। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबंध में भारतीय काव्यशास्त्र की महत्ता स्वीकार करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है — 'यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिये कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्य-शास्त्र का एक स्वतंत्र रूप है, जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को पहले जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। × × × इस दृष्टि से जब हम अपने साहित्य-शास्त्र को देखते हैं, *तब उसकी अत्यन्त व्यापक और प्रौढ़ व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है। शब्द शक्ति और रस-निरूपण की पद्धति को अत्यंत गंभीर है।* उसकी तह में एक ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है, जिसके भीतर जाकर हम सारे संसार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।" उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी एक सच्चे भारतीय समीक्षक हैं। भारतीयता उनकी रग-रग में व्याप्त थी।

शुक्ल जी ने अपने सैद्धान्तिक-निबंधों में स्थान-स्थान पर विरोधी मतों का खंडन करके अपने मतों की स्थापना की है। विपक्षी मतों पर उन्होंने कहीं-कहीं अपनी व्यंग्य-विनोदमयी शैली के नश्तर भी चलाए हैं। कुछ विद्वानों ने उनके इन प्रहारों को अनुदारता भी कहा है। पर यह 'अनुदारता' किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रकट नहीं हुई। वास्तव में वे केवल अपने मतों की स्थापना करना ही नहीं चाहते थे, उन्हें मनवाना और प्रचारित करना भी चाहते थे। अतः इसके लिए उन्हें कहीं कहीं उग्र भी होना पड़ा है। उनके इस कार्य में उनका साहित्यानुराग, देशानुराग ही कार्य करता दिखाई देता है, किसी प्रकार का पक्षपात या व्यक्तिगत द्वेष नहीं।

शुक्ल जी के इन निबंधों में तर्कप्रधान आलोचनात्मक-विवेचनात्मक शैली *का अधिक विकास हुआ है।* इनमें मनोभावों के निबंधों की अपेक्षा काव्यात्मकता, भावुकता, चित्रात्मकता और व्याख्यात्मकता की कमी है। निगमन आगमन शैली की विशेषता जैसी मनोवैज्ञानिक निबंधों में है, वैसी इनमें नहीं। साहित्यिक-खण्डन मण्डन में इस शैली का निर्वाह नहीं हो सका। सूत्रबद्ध वाक्यों की नियोजना, *मुहावरों लोकोक्तियों का प्रयोग भी इन निबंधों में* कम है। शब्द तत्सम ही

मुख्य रूप से प्रयुक्त हुए हैं, तद्भव शब्द भी उन निबंधों में कम मिलते हैं। इन निबंधों में पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है। शुक्ल जी ने अंग्रेजी के पर्यायवाची अनेक हिन्दी शब्दों को दिया जो उनके उद्भुत स्मारक हैं।

व्यक्तित्व के आन्तरिक दो पहलुओं—मस्तिष्क और हृदय में से शुक्ल जी के इन निबंधों में उनका हृदय-पक्ष अपेक्षाकृत कम व्यक्त हुआ है। बुद्धि और हृदय का वह सामञ्जस्य इन निबंधों में नहीं, जो मनोवैज्ञानिक निबंधों में पाया जाता है। ये निबंध और भी गूढ़-गंभीर, चिंतन और मस्तिष्कप्रधान निबंध हैं। शुक्ल जी के बाह्य व्यक्तित्व—शैली की विशिष्टता भी मनोभावों-सम्बन्धी निबंधों जैसी इनमें नहीं है। इन निबंधों में जीवन और जगत के प्रति प्रतिक्रिया तथा हास्य-व्यंग्य का पुट भी उतना नहीं। फिर भी चिंतामणि भाग 1 के चारों निबंधों —'कविता क्या है ?', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप'—में विशेषकर 'कविता क्या है' में पर्याप्त सजीवता है। 'प्रतिपादन की मौलिकता, अपने पक्ष का जोरदार समर्थन यत्र तत्र हृदय-स्पन्दन की ध्वनि और हास्य-व्यंग्य के पुट के कारण ये निबंध भी नितांत विषय-प्रधान होने से बचे रहते हैं।'

'चिंतामणि' 2 के पिछले दोनों निबंध आकार में बहुत बड़े हो गये हैं। उनमें हास्य-व्यंग्य, जीवन-दृष्टि, भावुकतापूर्ण हृदय-स्पन्दन तथा शैली की रोचकता और भी कम है। सैद्धान्तिक गूढ़ता उनमें अधिक है, और वही आरंभ से अन्त तक निबंध में फैली रहती है। निबंधगत सीमित विषय-विवेचन की अपेक्षा प्रबंधगत विस्तार होने के कारण हम उन्हें प्रबंध-निबंध कहेंगे। उनमें निबंध-कला का गौरव कम है। फिर भी उनका महत्त्व अपूर्व है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'शुक्ल जी ने अपने निबंधों द्वारा हिन्दी के काव्य-शास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति विरोधी धाराओं का खण्डन किया और संस्कृत-हिन्दी की प्रगतिशील परंपरा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेश-पूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है।" (आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना पृ० 260)

अब आगे हम शुक्ल जी के इन निबंधों में व्यक्त विचारों से पाठकों को अवगत करायेंगे, ताकि आगे उनके आलोचक रूप को समझने में आसानी रहे।

कविता क्या है ?

संसार में मनुष्य के भावों, विचारों और व्यापारों का विनिमय और संघर्ष चलता

रहता है। जब हम व्यक्तिगत सुख-दुःख, हानि-लाभ, योग-क्षेम से रहित विशुद्ध भावानुभूति की दशा अपनाते हैं, तो यह हृदय की मुक्त दशा होती है। "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" इस साधना को शुक्ल जी भावयोग कहते हैं और इसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं। ब्रह्मज्ञानी अपनी आत्मा को सांसारिक प्रपंचों से हटाकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, काव्य-साधक अपने हृदय को व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठाकर विशुद्ध भाव-भूमि के काव्यानन्द का अनुभव करता है।

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहां जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को *कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह* अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सब की अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बंध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

हमारे अनेक मनोभावों का परिष्कार तभी संभव है जबकि जगत के भिन्न-भिन्न रूप-व्यापारों से उन सबका प्रकृत सामंजस्य हो जाए। भावों के ही द्वारा मनुष्य जाति जगत के साथ तादात्म्य स्थापित करती आई है। इस सम्बंध में शुक्ल जी कहते हैं कि जगत के सभी प्रत्यक्ष और गूढ़ तथ्यों को, काव्य में भावों का विषय बनाने के लिए, मूल रूपों और व्यापारों में परिणत करना जरूरी है। मूल आदिम रूपों में रसपरिपाक अधिक संभव है।

सभ्यता के आवरण और कविता—सभ्यता की वृद्धि के साथ ही मूल भाव छिपते जाते हैं, और व्यापारों में बौद्धिक जटिलता बढ़ती जाती है। क्रोध, लोभ, घृणा आदि भावों के विषय अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगते हैं। किन्तु जटिल और अप्रत्यक्ष रूपों का भी सम्बंध मूल विषयों और व्यापारों से रहता अवश्य है। किसी जाली दस्तावेज को तैयार कर सम्पत्ति से वंचित करने वाले का कार्य छीना झपटी से लूटने के मूल व्यापार से सम्बंधित ही है। किन्तु शुक्ल जी के अनुसार, सभ्यता के आवरण से ढके ये रूप मूल व्यापारों जैसे मर्मस्पर्शी नहीं हो सकते। इसी से इनकी प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। "ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी, दूसरी ओर

सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं।"

3 जो काव्य दृष्टि सचराचर विश्व को समेटे रहती है वह अधिक व्यापक और गंभीर कही जा सकती है। जब हम अपनी भावना को विस्तृत करके अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर खुला छोड़ देते हैं तब हमारी भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है, और उस समय हमारा हृदय उच्च भाव-भूमि पर पहुँच जाता है। 'ज्ञानप्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा।"

मनुष्यता की उच्च भूमि—'कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भाव-योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।"

काव्य और व्यवहार मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। ज्ञान, विवेक या नीति से कर्म को उत्तेजना नहीं मिलती। मनुष्य के सभी व्यवहारों और कार्यों के मूल में भावनाएं ही रहती हैं। 'देश का धन बाहर जा रहा है'—इस वाक्य में देशोद्धार के लिए क्रियाशील बनाने की कोई शक्ति नहीं है। देश की फटे हाल जनता, माताओं के सूखे स्तन्य और बिलखते बच्चों के चित्र से ही करुणा फूटेगी जिसमें प्रवृत्ति की प्रेरणा है। यही भावना जगाना कविता का विषय है। कविता से अकर्मण्यता नहीं, बल्कि भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार हो जाता है। "जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलम्बनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थबुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उनकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखने वालों को—एक त्रुटि सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर

न हिलाते हो, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।"

भावना या कल्पना—कविता भावयोग है। जिस प्रकार भक्ति के लिए ध्यान की आवश्यकता है, उसी प्रकार कर्म और भावों के प्रवर्तन के लिए शुक्ल जी भावना या कल्पना को आवश्यक बताते हैं। काव्य का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए भावना या कल्पना का सजग और सशक्त होना जरूरी है। कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में पहली अपेक्षित है, और पाठक में दूसरी। योरोप में कल्पना को बहुत महत्त्व दिया गया है। कल्पना कवि-कर्म के लिए है भी अनिवार्य, पर इसे साधन ही समझना चाहिए, साध्य नहीं।

मनोरंजन—कविता का उद्देश्य मनोरंजन नहीं। उसका अंतिम लक्ष्य मनुष्य के रागों का परिष्कार और प्रसार है। मनोरंजन भी कविता से होता है, प्रभाव के लिए वह आवश्यक भी है, पर वह मार्ग है, गंतव्य नहीं। कविता समय काटने का एक सहारा या विलास की सामग्री नहीं।

सौन्दर्य—'सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूपरंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत होते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। × × × जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।"

'यही बाहर हँसता-खेलता, रोता गाता, खिलता-मुरझाता जगत भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। रूप मन और इन्द्रियों द्वारा संघटित है या मन और इन्द्रियाँ रूपों द्वारा इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।" सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य में ही नहीं करता, प्रत्युत प्रकृति की नाना रूप-छवियों से भी वह प्रभावित होता है। 'कविता केवल वस्तुओं के ही रूप-रंग के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।' यह कुरूप मनोवृत्तियों का असुंदर रूप भी दिखाती है। दशवदन निधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा? यदि राम की तरह बाहर और भीतर दोनों का सौन्दर्य सामने आए तो

क्या कहना ! चित्रकूट ऐसे रम्यस्थान मे बाह्य प्रकृति और भी सोने मे सुहागे का काम करती है। 'सुन्दर और कुरूप —काव्य मे बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं।"

चमत्कारवाद—मनोरंजन का लक्ष्य समझने वाले ही काव्य मे चमत्कार ढूँढते हैं। चमत्कार का प्रयोग भावानुभूति को तीव्र करने मे ही होना चाहिए। चमत्कार के बिना भी बहुत-सी स्वाभाविक भाव-भरी उक्तियाँ मार्मिक होती हैं। केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए केशव ने अनेक उक्तिया की हैं। ऐसी उक्ति को जिसे सुनते ही मन भाव-लीन या सौन्दर्य-लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढग, दूर की सूझ, कवि की चातुरी आदि का विचार करने लगे, आचार्य जी काव्य की बजाय सूक्ति मानते हैं। बिहारी की ताप-मापक उक्तिया खिलवाड ही हैं। इसके विपरीत भ्रमरगीत म भाव-प्रेरित अनेक मार्मिक वक्र-उक्तियाँ हैं। कुंतल के *'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्,' और विलायती क्रोचे के वक्रोक्तिवाद को भी शुक्लजी* वहीं तक मानने को तैयार हैं, जहा तक उक्ति भावानुमोदित हो। अनूठी उक्ति ही काव्य है, यह तो ठीक है, पर उक्ति कैसी ? क्या भावहीन केवल चमत्कार ?

कविता की भाषा—शुक्ल जी काव्य मे बिम्बग्रहण पर सर्वत्र ज़ोर देते हैं। अतः कविता की भाषा बिम्बग्राहिणी होनी चाहिए। इस मूर्तिविधान के लिए भाषा की लक्षणा-शक्ति बहुत सहायक होती है। 'समय बीता जा रहा है' की बजाय लक्षणा से 'समय भागा जा रहा है' कहना अधिक प्रभावोत्पादक है। इसी प्रकार 'रुपया खा जाना', 'किसी काम से हाथ खींचना' आदि उक्तिया और मुहावरे गोचर रूपों का विधान करने से प्रभाव उत्पन्न करते हैं। भाषा मे मूर्तिमत्ता के लिए जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक प्रयुक्त होने चाहिएँ। 'तुमने इसके साथ विवाह किया है' कथन की बजाय, 'तुमने इसका हाथ पकडा है' चित्रमय और व्यंजक है। कविता मे वर्ण विन्यास भी श्रुति-मधुर होना चाहिए। सगीतात्मकता और नाद-सौन्दर्य के लिए वृत्ति-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि का विधान और कर्ण-कटु वर्णों का त्याग अपेक्षित है।

अलकार—वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के साधन रूप म ही काव्य मे अलकारों का प्रयोग होना चाहिए। ये साध्य नहीं है। *अलकार सदैव प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-विधायक होने चाहिएँ।* कवि-परम्परा मे बहुत-से ऐसे उपमान प्रचलित है, जो प्रस्तुत भावना मे सहायक होने की बजाय बाधक हैं, जैसे कटि की उपमा भिड या सिंह से देना। भामह, उद्भट आदि हमारे प्राचीन आचार्यों ने अलकार को ही काव्य की आत्मा मान लिया था। बाद म मम्मट, विश्वनाथ आदि ने अलकार

और अलकार्य के भेद को स्पष्ट किया। अलंकार वर्णन के भिन्न-भिन्न ढग हैं, अतः अनेक हो मकते है। आचार्यों द्वारा गिनाए गए नामो पर ही इयत्ता नही। शुक्लजी कुतल की ही तरह स्वभावोक्ति को अलकार नही मानते। जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलकार लादकर सुन्दर नही हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत की रमणीयता के अभाव मे अलकारो का ढेर व्यर्थ ही है। केशव के पचासो पद्य ऐसे हैं, जिनमें अलकार केवल अलकार के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

कविता पर अत्याचार—लोभी और खुशामदी कवियो ने अपने आश्रय-दाताओ की झूठी प्रशस्तिया लिखकर कविता देवी के ऊँचे विशाल और पुनीत मन्दिर को कलुषित करने का ही प्रयत्न किया है। सच्चा कवि केवल राजाओ के महलो मे ही सौन्दर्य को नही देखता।

कविता की आवश्यकता मनुष्य के लिए सबदिन सर्वत्र ही रहेगी। चाहे इतिहास, विज्ञान न हो, पर कविता अवश्य रहेगी—सभ्य-असभ्य सभी मे। हाँ, जानवरो को इसकी जरूरत नही।

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

"आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की, भावना दोनों को एक ही मान कर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनन्द-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तो के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई।" ज्ञानियो ने लाख कहा, जगत मिथ्या है, झूठा है, आत्मा निर्लिप्त है, अतः उसका जगत से क्या सम्बन्ध? पर भक्त तो भगवान् के आनन्द स्वरूप का आभास इसी जगत मे पाता रहा है। हृदय आत्म और अनात्म को मिलाता रहा है। ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द—इन तीन रूपो मे काव्य और भक्ति मार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। लोक मे इस 'आनन्द' की अभिव्यक्ति दो अवस्थाओ मे पाई जाती है—एक साधनावस्था अर्थात् आनन्द को प्राप्त करने की प्रयत्न दशा और दूसरी सिद्धावस्था अर्थात् आनन्द की प्राप्त-दशा। "इस जगत मे न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विलास रहता है, न सुखसमृद्धिपूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुंधली-धुंधली फूटती हुई अन्त मे वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है, इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

क्या कहना ! चित्रकूट ऐसे रम्यस्थान में बाह्य प्रकृति और भी सोने में सुहागे का काम करती है। 'सुन्दर और कुरूप —काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी —ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं।"

चमत्कारवाद—मनोरंजन का शब्द समझने वाले ही काव्य में चमत्कार ढूंढते हैं। चमत्कार का प्रयोग भावानुभूति को तीव्र करने में ही होना चाहिए। चमत्कार के बिना भी बहुत-सी स्वाभाविक भाव-भरी उक्तियाँ मार्मिक होती हैं। केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए केशव ने अनेक उक्तियाँ दी हैं। ऐसी उक्ति को जिसे सुनते ही मन भाव-लीन या सौन्दर्य लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, दूर की सूझ, कवि की चातुरी आदि का विचार करने लगे, आचार्य जी काव्य की बजाय सूक्ति मानते हैं। बिहारी की ताप-मापक उक्तियाँ खिलवाड़ ही हैं। इसके विपरीत भ्रमरगीत में भाव-प्रेरित अनेक मार्मिक वक्र उक्तियाँ हैं। कुंतल के 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्,' और विलायती क्रोचे के वक्रोक्तिवाद को भी शुक्लजी वहीं तक मानने को तैयार हैं, जहाँ तक उक्ति भावानुमोदित हो। अनूठी उक्ति ही काव्य है, यह तो ठीक है, पर उक्ति कैसी ? क्या भावहीन केवल चमत्कार ?

कविता की भाषा—शुक्ल जी काव्य में बिम्बग्रहण पर सर्वत्र जोर देते हैं। अतः कविता की भाषा बिम्बग्राहिणी होनी चाहिए। इस मूर्तिविधान के लिए भाषा की लक्षणा-शक्ति बहुत सहायक होती है। 'समय बीता जा रहा है' की बजाय लक्षणा से 'समय भागा जा रहा है' कहना अधिक प्रभावोत्पादक है। इसी प्रकार 'रुपया खा जाना', 'किसी काम से हाथ खींचना' आदि उक्तियाँ और मुहावरे गोचर रूपों का विधान करने से प्रभाव उत्पन्न करते हैं। भाषा में मूर्ति-मत्ता के लिए जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक प्रयुक्त होने चाहिएँ। 'तुमने इसके साथ विवाह किया है' कथन की बजाय, 'तुमने इसका हाथ पकड़ा है' चित्रमय और व्यंजक है। कविता में वर्ण विन्यास भी श्रुति-मधुर होना चाहिए। संगीतात्मकता और नाद-सौन्दर्य के लिए वृत्ति-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि का विधान और वर्ण-कटु वर्णों का त्याग अपेक्षित है।

अलंकार—वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के साधन रूप में ही काव्य में अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए। ये साध्य नहीं हैं। अलंकार सदैव प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-विधायक होने चाहिएँ। कवि-परम्परा में बहुत-से ऐसे उपमान प्रचलित हैं, जो प्रस्तुत भावना में सहायक होने की बजाय बाधक हैं, जैसे कटि की उपमा भिड़ या सिंह से देना। भामह, उद्भट आदि हमारे प्राचीन आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य की आत्मा मान लिया था। बाद में मम्मट, विश्वनाथ आदि ने अलंकार

और अलकार्य के भेद को स्पष्ट किया। अलंकार वर्णन के भिन्न-भिन्न ढंग हैं, अतः अनेक हो सकते हैं। आचार्यों द्वारा गिनाए गए नामो पर ही इयत्ता नहीं। शुक्लजी कुतल की ही तरह स्वभावोक्ति को अलकार नही मानते। जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलकार लादकर सुन्दर नही हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत की रमणीयता के अभाव मे अलकारो का ढेर व्यर्थ ही है। केशव के पचासो पद्य ऐसे हैं, जिनमे अलकार केवल अलकार के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

कविता पर अत्याचार—लोभी और खुशामदी कवियो ने अपने आश्रयदाताओ की झूठी प्रशस्तिया लिखकर कविता देवी के ऊँचे विशाल और पुनीत मन्दिर को कलुषित करने का ही प्रयत्न किया है। सच्चा कवि केवल राजाओ के महलो मे ही सौन्दर्य को नहीं देखता।

कविता की आवश्यकता मनुष्य के लिए सबदिन सर्वत्र ही रहेगी। चाहे इतिहास, विज्ञान न हो, पर कविता अवश्य रहेगी—सभ्य-असभ्य सभी मे। हाँ, जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

"आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की, भावना दोनों को एक ही मान कर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनन्द-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई।" ज्ञानियो ने लाख कहा, जगत मिथ्या है, झूठा है, आत्मा निर्लिप्त है, अत. उसका जगत से क्या सम्बन्ध ? पर भक्त तो भगवान् के आनन्द स्वरूप का आभास इसी जगत मे पाता रहा है। हृदय आत्म और अनात्म को मिलाता रहा है। ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द—इन तीन रूपो मे काव्य और भक्ति मार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। लोक मे इस 'आनन्द' की अभिव्यक्ति दो अवस्थाओ मे पाई जाती है—एक साधनावस्था अर्थात् आनन्द को प्राप्त करने की प्रयत्न दशा और दूसरी सिद्धावस्था अर्थात् आनन्द की प्राप्त-दशा। "इस जगत में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विलास रहता है, न सुखसमृद्धिपूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुंधली-धुंधली फूटती हुई अन्त मे वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है, इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त आनन्द की सिद्धावस्था को अपनाते हैं। वे सुख-सौन्दर्य, माधुर्य, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग पक्ष की ओर मन रमाते हैं। कुछ आनन्द की प्रयत्नदशा को भी अपनाते हैं, और उल्लास, सुख-समृद्धि की सप्राप्ति से पूर्व अन्याय-अत्याचार, भय, दारिद्रय आदि को समाप्त होता देखते हैं। शुक्लजी ने इनको ही पूर्ण कवि माना है, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। इस आधार पर वे काव्य के दो भेद करते हैं—1. *आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले*, जैसे 'रामायण', 'महाभारत', 'रघुवंश' आदि। इन्हें डटन की शक्ति-काव्य (Poetry as energy) भी कह सकते हैं, 2. सिद्धावस्था या उपभोगपक्ष को अपनाने वाले, जैसे 'आर्यासप्तशती', 'गाथा सप्तशती', 'अमरूकशतक', 'गीतगोविंद', 'सूरसागर', 'बिहारी सतसई' आदि। इन्हें डटन का कला काव्य (Poetry as an art) कह सकते हैं, यद्यपि कला पहले में भी अपेक्षित है।

साधनावस्था—"भीषणता और सरसता, कोमलता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौन्दर्य का उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है।"

"वह *व्यवस्था या वृत्ति*, जिससे लोक मे मंगल का विधान होता है, अभ्युदय की सिद्धि होती है, धर्म है। अत अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति मे भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी।" इसकी विफलता मे भी एक निराला विषादमय सौन्दर्य होता है, जैसे महाकवि शेले के 'Revolt of Islam' महाकाव्य मे। भीतरी और बाहरी सौन्दर्य, कर्म-सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य का मेल कला की एक रहस्यमयी प्रेरणा है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर सभी प्रबन्ध काव्यकारो ने इसका सुन्दर विधान काव्य मे दिखाया है।

शुक्ल जी अत्याचारी के दमन-रूप कर्म-सौन्दर्य की बजाय टालसटाय द्वारा प्रचारित अत्याचारी के प्रति भी प्रेम और भ्रातृभाव प्रदर्शित करने वाले कर्म-सौन्दर्य के विरुद्ध हैं। "भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अत साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है।" रावण के प्रति राम के क्रोध मे

लोकोत्तर सौन्दर्य का कारण आत्मगौरव या दाम्पत्य प्रेम नही, बल्कि पीडित मानवता के प्रति करुणा की भावना है। इस प्रकार काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम-भाव की कोमल व्यजना मे ही नही माना जा सकता, जैसा कि टालसटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचड भावो के विधान मे भी, यदि उनकी तह मे करुण भाव अव्यक्त रूप म स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

काव्य मे वर्णित भाव मनुष्य मात्र को प्रभावित करने वाले होते हैं। 'जब तक किसी भाव का विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमे रसोदबोधन की पूर्ण शक्ति नही आती। आलम्बन का इस रूप मे लाया जाना ही साधारणीकरण कहलाता है।

आलवन जब तक सर्वमान्य न होगा, तब तक काव्य का विभावपक्ष पुष्ट न होगा। इसके बिना केवल भाव प्रदर्शन ही सम्भव है, रस सचार नही। किसी कुरूप स्त्री से प्रेम शृगार रस के आलम्बनत्व का विधायक नही हो सकता। भाव और विभाव पक्ष के सामजस्य से ही सच्ची रसानुभूति हो सकती है।

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नही। अत ' विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन मे आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप मे न आकर सामान्यत व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ-सकेत के रूप मे आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।" वास्तव में, साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोडा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप मे प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन मे यह भेद भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोडी देर के लिए पाठक का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।"

जब पाठक या श्रोता का काव्य के आश्रय से भाव-तादात्म्य नहीं होता, उस दशा की अनुभूति को शुक्लजी ने 'रस की नीची अवस्था' कहा है। जैसे, रावण अशोक वाटिका मे सीताजी पर क्रोध करता है, तो उसके क्रोध से हमारा तादात्म्य नही होता, हम रावण के चरित्र-द्रष्टा ही रहते हैं। यह अनुभूति भी रसात्मक ही होगी। 'पर इस रसात्मकता को हम (शुक्लजी) मध्यम कोटि की ही मानेंगे।' ऐसी दशा मे, तथा प्राकृतिक दृश्यो की अनुभूति की अवस्था मे, जहाँ काव्यगत आश्रय नही होता, तादात्म्य कवि की भावनाओ से होता है। इस प्रकार शुक्ल जी चरित्र-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भावानुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ बताते हैं। प्रथम मे पाठक अपनी सत्ता पृथक सभाले रहता है, द्वितीय मे कुछ क्षणो के लिए अपनी पृथक सत्ता खो देता है।

हमारे यहाँ काव्यो मे रस को महत्ता दी गई है, योरप मे शील वैचित्र्य की ओर प्रधान लक्ष्य रहता है, जिसके साक्षात्कार से पाठक को कौतूहल मात्र ही होता है। चरित्रो की विचित्रता से केवल तीन बातें हो सकती हैं। 1 सात्विक और उदात्त पात्रो के चरित्र—जैसे रामचन्द्र जी आदि—से आश्चर्यपूर्ण प्रसादन या आनन्द। 2 तामसिक और उद्धत पात्रो के चरित्र—जैसे रावण आदि राक्षस या महिरगुल आदि क्रूर हूण सम्राट—से आश्चर्यपूर्ण अवसादन। 3 डटन आदि पाश्चात्य समीक्षको द्वारा बताए गए अद्वितीय प्रकृति के विशिष्ट पात्रो से जो उपर्युक्त 'सु' और 'कु' वर्ग मे नही आते, केवल कुतूहल। डटन ने इस तीसरे प्रकार के पात्रो की उदभावना को लेखक की निरपेक्षदृष्टि का परिणाम कहा है। डटन महोदय का यह अभिप्राय नही था कि लेखक ऐसे पात्रो की सृष्टि करे जिन की भावनाओ और कार्य-व्यापारो से पाठक की अनुभूति ही न जगे। वह तो केवल यह चाहते थे, कि समस्त क्लासिकल (Classical) साहित्य मे वर्गगत चरित्र-सृष्टि होती रही है, जिसमे लेखक निरपेक्ष नही रहता, एक बधे हुए ढग पर ही—सत्-असत् रूप से पात्रो का निर्माण होता है, मनोविज्ञान और यथार्थता की रक्षा के लिए पात्रो की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो का उद्घाटन करके व्यक्तिगत पात्रो की भी सृष्टि होनी चाहिए। परन्तु शुक्लजी डटन की बात को यो ही खेंच गए और 'नूतन सृष्टि-निर्माण' से 'नकली हृदयो का कारखाना,' समझ बैठे। 'जुलियस सीजर' का अटोनियो और 'हैमलेट' का हैमलेट, जिन्हे डटन ने चरित्र-वैशिष्ट्य के उदाहरण मे गिनाया है, किसी नकली दुनिया के प्राणी नही हैं। उनकी भावनाए, क्रियाकलाप ऐसे नही जो हमारी अनुभूति का विषय ही न बनते हो। अत शुक्ल जी ने जो डटन के व्यक्ति वैचित्र्यवाद का साधारणीकरण से विरोध दिखाया है, वह व्यर्थ ही है। योरप के नूतन-सृष्टि-निर्माण और व्यक्तिवाद का विरोध

करते हुए वे कहते हैं—"नूतन-सृष्टि-निर्माण वाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहां यह कथन अर्थवाद के रूप में—कवि और कवि-कर्म की स्तुति के रूप में ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धान्त या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत्ता यह एक सूत्र-सा बनकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहां यह हुआ कि कुछ रचनाएं इस ढंग की भी हो चलीं जिनमें कवि ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना की नकल करता है जो न वास्तव में उसकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन-सृष्टि-निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत के पंछियों' की उड़ान शुरू हुई।"

पश्चिम के व्यक्तिवाद, कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि अनेक वादों का विरोध करते हुए शुक्लजी भारतीय काव्य-पद्धति की प्रशंसा में कहते हैं—"भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्-घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहां के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरपीय काव्य-दृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहां के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही संतुष्ट रहे जो मनुष्य मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं।"

रसात्मक बोध के विविध रूप

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह संसार से ही अपनी भावनाओं और कल्पनाओं का संचय करता है। काव्यानन्द के सम्बन्ध में जो ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की, अलौकिकत्व की बात कही गई है, उसका अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं, जैसा कि पश्चिम के ब्रैडले आदि कुछ कलावादी कहते हैं। सब प्रकार के काल्पनिक, मानसिक, काव्यमय रूप-विधानों का आधार इसी जगत में प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप-विधान ही होते हैं। शुक्लजी का उद्देश्य इस निबंध में यही दिखाना है कि काव्य की अप्रत्यक्ष कल्पित अनुभूति की तरह प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है। अनुभूति में आने वाले रूप-विधान तीन प्रकार के होते हैं—1. प्रत्यक्ष रूप-विधान, 2. स्मृत रूप-विधान और 3. कल्पित रूप-विधान।

1. प्रत्यक्ष रूप-विधान—सब प्रकार की अनुभूति का मूल प्रत्यक्ष रूप-विधान है। 'देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चन्द' कहने वाले केशवदास जी को

"अपनी सत्ता के सर्वथा लोप की भावना मनुष्य को असह्य है। अपनी भौतिक सत्ता तो वह बनाए नहीं रख सकता अत वह चाहता है कि उस सत्ता की स्मृति ही किसी जन-समुदाय के बीच रहे। बाह्य जगत में नहीं तो अन्तर्जगत के किसी खण्ड में ही बना रहना चाहता है। इसे हम अमरत्व की आकांक्षा या आत्मा के नित्यत्व का इच्छात्मक आभास कह सकते हैं। अपनी स्मृति बनाए रखने के लिए कुछ मनस्वी कला का सहारा लेते हैं और उसके आकर्षक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करके विस्मृति के खड्ड मे झोंकने वाले काल के हाथों को बहुत दिनों तक —सहस्रों वर्ष तक—थामे रहते हैं।"

"जीवन तो जीवन, चाहे राजा का हो चाहे रक का, इसके सुख और दु ख दो पक्ष होंगे ही। इनमे से कोई पक्ष स्थिर नहीं रह सकता। ससार और स्थिरता? अतीत के लम्बे चौड़े मैदान के बीच इन उभय पक्षों की घोर विषमता सामने रखकर कोई भावुक जिस भाव-धारा मे डूबता है, उसी मे औरो को डुबाने के लिए शब्द-स्रोत भी बहाता है। इस पुनीत भावधारा मे अवगाहन करने से वर्तमान को-अपने—पराए को—लगी-लिपटी मैल छटती है और हृदय स्वच्छ होता है।

3 कल्पित रूप-विधान—"उपर्युक्त तीन प्रकार के रूप-विधानों मे से अतिम (कल्पित) ही काव्य-समीक्षकों और साहित्य-मीमासकों के विचार क्षेत्र के भीतर लिए गए हैं [और लिए जाते हैं। बात यह है कि काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-सकेतों के द्वारा ही अन्तस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है। अत जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारो का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना मे ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है।'

कल्पना द्वारा कवि जगत और जीवन की ही अनुभूत नाना छवियो को अकित करता है। काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानने वालो का विरोध करते हुए शुक्ल जी कहते हैं—"काव्य सर्वथा स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहता और काव्य-वस्तु भी। दोनों के आविर्भाव का स्थान भर एक है। स्वरूप मे भेद है। कल्पना मे आई हुई वस्तुओं की प्रतीति से स्वप्न मे दिखाई पडने वाली वस्तुओं की प्रतीति भिन्न प्रकार है। स्वप्नकाल की प्रतीति प्राय प्रत्यक्ष ही के समान होती है। दूसरी बात यह है कि काव्य में शोक के प्रसग भी रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो।'

अप्रस्तुत-विधान, लाक्षणिक प्रयोग व्यजना-शक्ति आदि के द्वारा भाषा-शैली को व्यजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने मे भी कल्पना का योग रहता है। कविता की पूर्ण अनुभूति के लिए कवि के साथ-साथ पाठक की कल्पना भी सजग होनी चाहिये।

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

'चिंतामणि' 2 का यह निबध अन्य दो निबधों की अपेक्षा सक्षिप्त और सम्बद्ध है। अत इसे हम प्रबन्ध-निबन्ध नही मानते। इसमे शुक्ल जी के प्रकृति के प्रयोग-सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। काव्य मे शुक्ल जी अर्थ-ग्रहण की बजाय बिम्ब-ग्रहण को महत्त्व देते हैं। 'बिम्बग्रहण' कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है। शुक्ल जी केवल उद्दीपन के लिए ही प्रकृति-प्रयोग अच्छा नही मानते। हमारे साहित्याचार्यों की दृष्टि मे वन-उपवन, ऋतु आदि शृगार के 'उद्दीपन' मात्र रहे, जिस के परिणाम स्वरूप बाद के सस्कृत कवियो ने प्रकृति का आलम्बन रूप मे यथातथ्य सश्लिष्ट चित्रण छोड, केवल 'उद्दीपन' तथा अलकरण के ही हेतु प्रकृति-प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। हिन्दी की कविता का उत्थान भी उस समय हुआ, जब सस्कृतकाव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी-काव्य मे प्राकृतिक दृश्यो का वह सूक्ष्म वर्णन नही मिलता जो वाल्मीकि, कालीदास, भवभूति आदि प्राचीन सस्कृत-कवियो मे पाया जाता है। प्रकृति के स्वतत्र दृश्यो मे भी हृदय को रमाने की शक्ति है।'जो प्राकृतिक दृश्यो को केवल 'कामोद्दीपन' की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है। वाल्मीकि, कालीदास, भवभूति आदि प्राचीन कवियो का प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग था। प्रकृति के साधारण-असाधारण सभी दृश्यो मे उनका हृदय रमता था। शुक्ल जी सच्चा प्रकृति-अनुरागी उसे ही मानते हैं, जो प्रकृति के भव्य रूपो के साथ ककरीले टीलो, ऊसर पटपरो, पहाड के ऊबड-खाबड किनारो या बबूल-करौंदे के झाडो में भी आकर्षण की बात पाता है। "अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओ के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं और अपना प्रेमानन्द केवल इन शब्दो मे प्रकट करते हैं कि 'अहा हा! कैसे लाल सुन्दर फूल खिले हैं—कैसी शीतल, मद, सुगध हवा चल रही है', उनका प्रेम कोई प्रेम नही—उसे अधूरा समझना चाहिये। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नही। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं।" आचार्य का यह आक्रोश कुछ बेजा-सा प्रतीत होता है, क्योकि प्रकृति के भव्यरूपो का ही चित्रण करने वालो को तमाशबीन और सहृदयता से खारिज नही माना जा सकता, परन्तु यह आक्रोश अकारण भी नही है। फारस की

महफिली शायरी ही, जिसमे चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप मे होता है, 'अलबुर्ज,' जैसे सुन्दर पहाड़ तक का विशद वर्णन जिसमे नही मिलता, आचार्य के वास्तविक आक्रोश का कारण है। भारतीय कविता को वे इस रग मे नही देखना चाहते थे। अतः बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति जैसे रस-सिद्ध कवियो जैसी सच्ची सहृदयता प्रकृति के प्रति आगे के कवियो मे न पाकर शुक्ल जी अपना सच्चा प्रकृति-प्रेम दर्शाते हुए, काव्य को प्रकृति के अनुराग की ओर ले जाने के लिए ही अपने क्षोभपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करते हैं। आदिकवि के हेमन्त, वर्षा आदि के ऋतु-दृश्यो, कालिदास के 'कुमार सभव' मे हिमालय के चित्रण तथा पूर्वमेघ के प्राकृतिक दृश्यो मे प्रकृति-निरीक्षण की जो सूक्ष्मता, वस्तुओ और व्यापारो की जो संश्लिष्ट योजना पाई जाती है, वह आगे के सस्कृत-हिन्दी कवियो मे कहाँ ? बाद के कवियों ने यदि कही यथातथ्य रूप मे प्रकृति-चित्रण किया भी है, तो पूरे मनोयोग से नही। उनके चित्र अधूरे-से ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार आचार्य काव्य मे प्रकृति के आलम्बन रूप मे सश्लिष्ट चित्रण पर जोर देते हैं।

जायसी, सूर, तुलसी, केशव आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो मे से किसी ने प्रकृति के प्रति अपना स्वाभाविक अनुराग नही दिखलाया। प्रकृति का निरीक्षण पुराने कवियो मे बहुत ही कम मिलता है। जायसी आदि ने तो नाम-परिगणन मात्र की एक और भद्दी शैली का भी प्रयोग किया। "भारतेन्दु के समय से हमारी भाषा नए मार्ग पर आ खडी हुई, पर दृश्य-वर्णन मे कोई सस्कार नही हुआ।" भारतेन्दु का गगा और यमुना-वर्णन भी प्राचीन ढग का ही है, सश्लिष्ट दृश्य-विधान इनमे नही।

शुक्ल जी प्रकृति-दर्शन मे भी रस-परिपाक मानते हैं। "जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावो के आलम्बन हैं तब इस शका के लिए कोई स्थान ही नही रहा कि प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन मे कौन सा रस है ?"

अलकरण के लिए प्रकृति-प्रयोग मे शुक्ल जी उन्ही उपमानो की योजना उचित बताते हैं, जो भाव और वस्तु के उत्कर्ष-विधायक हो। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है। इस दृष्टि से कई प्रचलित परम्परागत उपमानो को—जैसे नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहिनी को सामने लाना, जाँघो की उपमा के लिए हाथी की सूँड आदि को शुक्ल जी अनुपयुक्त मानते हैं। देश-भक्ति और देशानुराग की भी सच्ची कसौटी शुक्ल जी देश के प्रत्येक प्राकृतिक स्थल—वन, पर्वत, नदी-नाले आदि से—देश के कण-कण से अनुराग मे ही मानते हैं।

काव्य में रहस्यवाद

112 पृष्ठों का यह विस्तृत निबन्ध कुछ-कुछ प्रबन्ध-सा बन गया है। इसमें शुक्ल जी ने छायावाद और रहस्यवाद-सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किए हैं। आचार्य शुक्ल एक जनवादी काव्याचार्य हैं। वे इस जीवन और जगत में ही भगवान की मंगलमयी शक्ति और विभूति को देखते और मानते हैं। रहस्यवादी और छायावादी कविताओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि जो कवि जीवन और जगत की नाना छवियों को छोड़ अपने अन्तर्जगत में ही काव्य ढूंढ़ा करते हैं अथवा अज्ञात के प्रति अपने भावों का प्रदर्शन करते हैं वे काव्य को बहुत संकुचित और सीमित करते हैं। अपने संकुचित भावों से ऊपर उठकर जो *सृष्टि के व्यक्त रूप-व्यापारों से तादात्म्य स्थापित करता है,* वही ब्रह्म की सत्ता में लीन होता है। लोक-मंगल के विधान की अपेक्षा जो अज्ञात लोक में विचरण करता है, आचार्य की दृष्टि से वह संसार से पलायन करता है। आचार्य कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से मानते हैं, अव्यक्त सत्ता से नहीं। 'जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"

शुक्ल जी अज्ञात के प्रति रहस्य भावना के प्रादुर्भाव को विदेशी मानते हैं। उन्होंने अज्ञात की व्यंजना को 'कृत्रिम और काव्यगत सत्य के विरुद्ध कहा है। जो तथ्य मनुष्य के ज्ञान से परे है और जिसकी उसे कभी अनुभूति ही नहीं हुई, उसके प्रति रागात्मक झूठी कल्पनाएं व्यर्थ हैं। "जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" अज्ञात के प्रति 'जिज्ञासा' तो हो सकती है, 'लालसा' नहीं। काव्य को 'वादों' से परे रखना चाहिए। 'वाद', दर्शन या सिद्धान्तों को व्यक्त करने वाली कबीर की उक्तियों में से लोक-जीवन के अनुभव से सम्बन्धित उक्तियाँ मार्मिक हैं। 'अज्ञात की लालसा' का मूल आचार्य सेमेटिक जातियों में मानते हैं। लालसा उन वस्तुओं के प्रति ही होती है, जिनकी प्राप्ति में आनन्द का अनुभव होता है। संसार की वस्तुओं से मनुष्य के आनन्द की तृप्ति नहीं होती, अतः वह पूर्ण आनन्द को नाना क्षेत्रों में पाने की कल्पना करता है—यह स्वीकार करते हुए भी शुक्ल जी लिखते हैं—"अतः तत्त्व दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लालसा' कोई भाव ही नहीं है। यह केवल ज्ञात की लालसा है जो भाषा को छिपाने वाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा' कही जाती है।"

शुक्ल जी के अनुसार भारतीय दृष्टि अव्यक्त ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा और व्यक्त सगुण भगवान के प्रेम की लालसा तथा सामीप्य-लाभ की अभिलाषा रखती है। हृदय की भावनाओ का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बध आचार्य नही मानते। वे स्वाभाविक रहस्य भावना को तो स्वीकार करते है, जिसे उन्होने जायसी मे देखा, वादगत (dogmatic) रहस्यवाद को नहीं मानते। प्राकृतिक सौन्दर्य के आधार पर अज्ञात के प्रति अनेक मनोहर सकेतो मे ही वे काव्यगत सौन्दर्य का अवलोकन करते हैं। इस स्वाभाविक रहस्य भावना के आगे आत्मा-परमात्मा की प्रणयानुभूति के रूप-चित्रो को वे कवि के अहकार की तुष्टि मात्र बताते हैं।

शुक्ल जी अलकार-प्रयोग, कल्पनावाद, अभिव्यजनावाद, मुक्तक काव्य, भाव-निरपेक्ष चमत्कारवाद, अनूठेपन आदि के विरोध मे विचार व्यक्त करते हैं। इस निबध मे इन विषयो से सम्बन्धित यहाँ 11 पृष्ठ ('चिंतामणि' 2—पृष्ठ 88-89) मूल विषय से कुछ असम्बद्ध से हो गए है। इस निबध के बीच-बीच मे ऐसे स्थल इसकी निबधता को क्षति पहुँचाते है।

हिन्दी की छायावादी और रहस्यवादी कविता को शुक्ल जी बगला के अभिव्यजनावाद और अग्रेजी लाक्षणिक पदावली का परिणाम समझते है। 'कलावाद', 'कला कला के लिए' आदि पश्चिम के वादो का विरोध करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि सन् 1885 ई० मे फ्रांस के प्रतीकवादियो ने काव्य को अपनी साम्प्रदायिक भावनाओ का अखाडा बनाया और अनूठे रहस्यवाद और भावोन्मादमयी भक्ति को व्यक्त किया। भारतीय बगला, मराठी, गुजराती तथा हिन्दी साहित्य पर इसी का प्रभाव पडा। आचार्य के अनुसार भारतीय वेदान्त का प्रभाव सूफियों पर पडा। प्रतिबिम्बवाद सूफियो के प्रभाव से योरप मे गया, जहाँ प्रतीकवाद और कल्पनावाद से उसका मेल हुआ। वहाँ से रहस्यवाद का नया रूप ग्रहण करके बगला साहित्य के प्रभाव से हिन्दी मे 'छायावाद' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ। शुक्ल जी भारतीय भक्ति-मार्ग मे 'रहस्य' या 'गुह्य' का कोई स्थान नही मानते। वे निर्गुण भक्ति को भी विदेशी वस्तु बताते हैं। वे कहते है—"भारतीय भक्ति-मार्ग को रहस्यवाद का आधार लेकर नही चलना पडा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव भगवान को प्रत्यक्ष विभूति को, बिना किसी सकोच और भय के—बिना प्रतिबिम्बवाद आदि वेदान्ती वादो का सहारा लिए—सीधे अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी मे रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण-भक्ति' की वाणी चली वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेश मे एक विदेशी वस्तु थी। इधर अग्रेजो के आने पर ईसाइयो के

आन्दोलन के बीच जो ब्रह्मो समाज बगाल मे स्थापित हुआ उसमे भी 'पौत्तलिकता' का भय कुछ कम न रहा। अत. उसकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमे भी 'रहस्यवाद' का सहारा लिया गया। साराश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है, काव्य का कोई सामान्य सिद्धात नही।" छायावादी कविताओ के लाक्षणिक प्रयोग की अवश्य शुक्ल जी ने सराहना की है। शुक्ल जी छायावादी कविता के छन्द-बधन-त्याग के विरुद्ध थे। नाद-सौन्दर्य के लिए यह बधन आवश्यक है। वे छायावाद और रहस्यवाद मे कोई अन्तर नही करते। छायावाद या रहस्यवाद को वे 'विलायती चीजो का मुरब्बा' कहते हैं। छायावाद के काव्य-वस्तु-पक्ष को वे रहस्यवाद कहते है, और विधि-विधान (form) को अभिव्यजनावाद। इस प्रकार शुक्ल जी स्वाभाविक रहस्य भावना के पक्ष मे हैं, 'वाद' के विरुद्ध हैं।

काव्य में अभिव्यंजनावाद

82 पृष्ठो के इस विस्तृत भाषण-निबध मे शुक्ल जी ने इटली निवासी क्रोचे के काव्य-मत अभिव्यजनावाद की आलोचना की है। शुक्ल जी का कहना है कि कलावाद की तरह अभिव्यजनावाद भी जगत और जीवन के रूप-व्यापारो और भावानुभूतियो की उपेक्षा करता है। क्रोचे इन्हे केवल काव्य के उपादान मानता है। सब कुछ है अभिव्यजना। शुक्ल जी का मत है कि हमारे यहाँ काव्य को 64 कलाओ से अलग माना गया था। किन्तु पश्चिम मे काव्य को भी कला के अन्तर्गत घसीट लेने का ही यह दुष्परिणाम है, कि उसे जीवन-निरपेक्ष केवल मनोरंजन की वस्तु समझा जाने लगा है, काव्य को बेल-बूटे, नक्काशी के तुल्य माना जाने लगा है। क्रोचे की दृष्टि म जगत्-जीवन से लिए गए रूप-व्यापारो या भाव-विचारो की अनूठी अभिव्यजना ही सब कुछ है। वे रूप-व्यापार या भाव अपने मे कुछ नही, अभिव्यजना प्रणाली या ढाँचा (Form) ही सब कुछ है। क्रोचे अनूठी उक्ति की अपनी सत्ता मानते है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्याय नही मानते। अभिव्यक्ति ही काव्य है और इस अभिव्यक्ति का असली रूप बाह्य तथा अत प्रकृति से परे आत्मा की निजी क्रिया कल्पना द्वारा प्रस्तुत होता है। सहजज्ञान (Intuition) के साँचे मे अर्थात् सहजज्ञान की दशा मे अभिव्यक्त होने के कारण क्रोचे इस अभिव्यक्ति को अपने म पूर्ण मानते है। सहजज्ञान-प्रसूत कल्पना ही इसे पूर्णता प्रदान करती है। अभिव्यजना चाहे अव्यक्त रूप मे भीतर ही हो, चाहे शब्द, रग रूप मे बाहर प्रकट हो—हर अवस्था मे काव्य है। इस प्रकार क्रोचे ने काव्य का सीधा सम्बन्ध आत्मा से स्थापित किया। स्वयप्रकाश ज्ञान (Intuition) से क्रोचे का अभिप्राय है मन मे अपने आप से उठी भावना जो आत्मा की क्रिया होती है।

कल्पना आत्मा की क्रिया है जो साँचा (Form) निर्माण, कर रूप-व्यापारो या द्रव्य वस्तुओ को उसमे ढाल कवि की कृति को व्यक्त रूप प्रदान करती है। शुक्ल जी ने क्रोचे के स्वय-प्रकाश ज्ञान की अभिव्यक्ति व आन्तरिक पक्ष की उपेक्षा करके उसे केवल बाहरी वस्तु समझकर उसके अभिव्यजनावाद का विरोध किया है। इसीलिए तो वे कहते हैं कि क्रोचे वस्तु मे सौंदर्य न देख उक्ति मे ही सौन्दर्य देखते हैं। वास्तव मे क्रोचे स्वयप्रकाश ज्ञान को तर्क बुद्धि के ज्ञान से भिन्न मानते हैं। अत स्वयप्रकाश ज्ञान की अभिव्यक्ति, जिसे क्रोचे ने कल्पनात्मक आत्मिक अभिव्यक्ति कहा है, हमारी समझ मे आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति (जयशकर प्रसाद) और स्वय शुक्ल जी की हृदय की मुक्त दशा की अनुभूति से कोई भिन्न वस्तु नही। क्रोचे ने भावो की अवहेलना कही नही की। भाव और विचार तो अभिव्यक्ति मे रहेंगे ही। वह भावानुभूति और काव्यानुभूति मे अन्तर करता है, जो ठीक ही है। हमारे भौतिक भाव विचार और रूप व्यापार स्वयप्रकाश ज्ञान की अवस्था या हृदय की स्वार्थ-सम्बधो से मुक्त अवस्था (शुक्ल जी भी जिसे रसात्मक बोध के विविध रूप मे स्वीकार करते हैं) मे ही काव्यानुभव की वस्तु बनते हैं। यही बात क्रोचे कहना चाहता है। हृदय या आत्मा की ऐसी अवस्था की अनुभूति या अभिव्यक्ति अपने मे पूर्ण होगी, प्रभावोत्पादक होगी, इसमे सदेह ही नही हो सकता। अत हमारा विचार है कि आचार्य शुक्ल क्रोचे की ऊपरी बात को पकड बैठे और उसकी गहराई म नहीघुसे। क्रोचे तो अलकार को भी उक्ति से भिन्न स्वीकार नही करते। वह वस्तु और अभिव्यजना मे भेद नही करता किन्तु शुक्ल जी की वस्तुवादी दृष्टि अलकार और अलकार्य तथा वस्तु और अभिव्यजना म भेद स्वीकार करके चली है।

शुक्ल जी इस पाश्चात्य अभिव्यजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान कहते है। इस सम्ब ध मे उनका कथन है कि उक्ति ही काव्य है, यह तो ठीक, पर कैसी उक्ति ? आचार्य उक्ति का भावानुमोदित होना आवश्यक ठहराते हैं और उनके अनुसार ये 'वाद' भाव को नाममात्र का स्थान देते हैं।

इस अभिव्यजनावाद और कलावाद के प्रभाव से हिन्दी कविता मे जो प्रवृत्तिया पाई जाती हैं, उनका उल्लेख आचार्य जी इस प्रकार करते हैं—

1 प्रस्तुत मार्मिक रूप विधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप विधान मे ही कल्पना का प्रयोग।

2 जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति मे लीन करने का प्रयास छोड केवल उक्ति वैचित्र्य लाने का प्रयास।

3. जीवन की विविध मार्मिक दशाओ को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबध काव्यो के स्थान पर प्रेम-सम्बन्धी प्रगीतो की ओर प्रवृत्ति ।

4. 'अनन्त', 'असीम' ऐसे कुछ शब्दो द्वारा आध्यात्मिक रग चढाना ।

5. काव्य के सम्बन्ध मे वेल, बूटे, नक्काशी वाली हल्की धारणा ।

6. समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास ।

००

7

व्यावहारिक समीक्षा-सम्बंधी निबंध

शुक्ल जी ही हिन्दी मे नए ढग की सर्वाङ्गीण व्याख्यात्मक समीक्षा के जन्म दाता हैं। कवि या लेखक की अन्त. प्रवृत्ति में प्रवेश करके उसकी समस्त साहित्यिक चेतना का आकलन तथा पूरी गहराई के साथ उसकी कृति के मूल्याकन का मार्ग सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही दिखाया। उनकी ऐतिहासिक दृष्टि बहुत बढ़ी-चढी थी। वे भाषा के मर्मज्ञ और बहुत बड़े रस-ग्राही आलोचक थे। डा० देवराज के शब्दो म "शुक्ल जी की सबसे बडी शक्ति है रस-ग्राहिता, इतनी ठोस रसज्ञता वाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते हैं। कौन सा काव्य वस्तुत. सुन्दर, महान है, इसे पहचानने मे शुक्ल जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि कभी धोखा नहीं खाती, भले ही वे सदैव उस दृष्टि का सफल विवेचनात्मक मडन प्रस्तुत न कर सकें।" (साहित्य-चिता पृ० 167) शुक्ल जी ने सर्वप्रथम तुलना, इतिहास, साहित्य-शास्त्र आदि से समन्वित वैज्ञानिक पश्चिमी ढग की व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्र-पात किया। उनके व्यावहारिक समीक्षक रूप पर हमने आगे कुछ विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। यहा उनके इस प्रकार के निबधो की सामान्य विशेषताए ही प्रकट करते है। वैसे तो शुक्ल जी के इस कोटि के निबध 'चितामणि' 1 मे सकलित केवल तीन ही बताये जाते हैं, पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उनके तुलसी और जायसी के आलोचनात्मक प्रबधो के कुछ अन्य खण्ड विषय भी इस कोटि के निबधो मे ही आयेंगे, तथा उनकी सूर पर आलोचना भी इसी श्रेणी का विस्तृत निबध है। उनके 'गोस्वामी तुलसीदास' प्रबध के 'तुलसी की भक्ति-पद्धति', 'तुलसी का लोक धर्म', 'तुलसी की भावुकता' आदि प्रकरण भी उसी कोटि के निबध हैं, जिस कोटि का 'मानस की धर्म-भूमि'। इसी प्रकार 'जायसी ग्रथावली' के पद्मावत की प्रेम-पद्धति,' 'जायसी का रहस्यवाद' आदि कुछ विषय भी इसी श्रेणी मे सम्मिलित किए जा सकते हैं।

शुक्ल जी के इन निबधो मे भी उनका स्वाधीन चिंतन परिलक्षित होता है। उनक काव्य-अभिमत, उनका लोकादर्शवाद, प्रकृति-प्रेम, उनकी रसज्ञता, सगुणवाद, रहस्यवाद को साम्प्रदायिक कहना तथा स्वाभाविक रहस्य-भावना को ही काव्योपयोगी स्वीकार करना, ऐकान्तिक प्रेम के स्थान पर लोक-जीवन-बद्ध प्रेम की प्रशसा आदि सिद्धान्त हमे इन निबधों मे भी बिखरे मिलते हैं। उनके

व्यक्तित्व की निहिति भी इन निबधो मे पर्याप्त है, कम-से-कम उनके 'चिंतामणि' 2 के निबधो की अपेक्षा अधिक स्फुट और प्रबल है। सैद्धान्तिक निबधो के ही समान इनमे भी न हास्यव्यग्य शैली का वैसा पूर्णपुट पाया जाता है, न समाज-दर्शन और जीवन के प्रति प्रतिक्रियात्मक अनुभूतिया, जैसे कि भावो-सम्बधी निबधो म। इन निबधों मे शुक्ल जी की व्याख्यात्मक शैली के ही अधिक दर्शन होते हैं। पर व्याख्याशैली की निगमन और आगमन शैलियो का भी वह सौष्ठव इन निबधो मे नही। सूत्र रूप मे कहने की प्रवृत्ति इनमे भी दिखाई देती है, पर वह कसाव यहा नही है जो मनोविकारो वाले निबधो मे है। इन निबधो की भाषा सैद्धान्तिक निबधो से कुछ सरल है। 'तुलसी का भक्तिमार्ग' और 'मानस की धर्मभूमि' शुक्ल जी के इस श्रेणी के निबधो मे सर्वश्रेष्ठ हैं। उनमे शैली की प्रौढता भी भावो-सम्बधी निबधो जैसी है। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' निबंध मुख्य रूप से व्याख्यात्मक-परिचयात्मक निबध ही है। उसमे विवेचन और विश्लेषण की प्रवृत्ति बहुत कम है।

आगे हम इन तीन निबधो का ही इस ढग से परिचय पाठको को कराते हैं, जिससे शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा के निबधों की शैली भी स्पष्ट हो जाये।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु ही वर्तमान हिन्दी गद्य-भाषा के वास्तविक स्वरूप-प्रतिष्ठापक तथा गद्य-साहित्य-परम्परा के प्रवर्तक थे। भारतेन्दु से पूर्व भाषा का प्रस्ताव-काल था। उसका स्वरूप स्थिर नही हुआ था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह ने अपने-अपने अलग प्रस्ताव भाषा-सम्बधी रखे। इनसे पूर्व-मुन्शी सदासुख लाल की भाषा मे पण्डिताऊपन था, लल्लू लाल मे ब्रजभाषापन और सदलमिश्र मे पूरबीपन बहुत अधिक था। राजा शिवप्रसाद उर्दूपन के पक्षपाती होते गए और लक्ष्मण सिंह के गद्य मे आगरे की बोल चाल का भारी पुट था। उनका विशुद्धता का आग्रह भी अनुचित था। भारतेन्दु ने उपर्युक्त सभी लेखको के दोषो को दूर किया। भारतेन्दु ने ही भाषा का वास्तविक सस्कार किया। "सस्कृत शब्दो के रहने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फारसी-अरबी के शब्दो के रहने पर भी साथ साथ उर्दूपन न आना, हिन्दी की स्वतत्र सत्ता का प्रमाण था। उनका भाषा-सस्कार शब्दो की काट-छाँट तक ही नही रहा, वाक्य-विन्यास मे भी वे सफाई लाये।"

भारतेन्दु ने परम्परागत काव्य-भाषा ब्रजभाषा का भी परिष्कार किया। उन्होने शब्दो का तोड-मरोड बन्द किया, और सैकडो सालो से बोलचाल से हटे

हुए परम्परागत शब्दों के स्थान पर बोल चाल की शब्दावली का प्रयोग किया। उनकी चलती भाषा के सवैये इतने सरस और रसीले बने, कि देखते-देखते लोकप्रिय हो गए।

इस भाषा-संस्कार से भी बढ़कर, भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य को नव चेतना देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साहित्य और जीवन को वे एक-दूसरे के निकट लाये। 'वे सिद्ध वाणी के अत्यन्त सरस सहृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार रस के ऐसे रसपूर्ण और मर्मस्पर्शी कवित्त-सवैये निकलते थे जो उनके जीवनकाल में ही इधर-उधर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे थे और दूसरी ओर स्वदेशप्रेम से भरे हुए उनके लेख और कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र-सा फूकती थीं। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के मधुसूदनदत्त और हेमचन्द्र की श्रेणी में; एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई 'भक्तमाल' गूँथते थे, दूसरी ओर टीकाधारी बगुला-भक्तों की हँसी उड़ाते तथा स्त्री-शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।"

नई धारा की कविता में 'भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था।' 'नीलदेवी', 'भारतदुर्दशा' आदि नाटकों के अतिरिक्त फुटकर कविताओं में भी देश गौरव की पूर्ण व्यंजना हुई है। अतीतगौरव का वर्णन और वर्तमान अधोगति पर खिन्नता और क्षोभ की भावना मुख्य रूप से व्यक्त हुई है। "बड़ा भारी काम भारतेन्दु ने यह किया कि स्वदेशाभिमान, स्वजाति प्रेम, समाज सुधार आदि की आधुनिक भावनाओं के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुना तथा इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरातत्त्व इत्यादि अनेक समयानुकूल विषयों की ओर हिन्दी को दौड़ा दिया।"

भारतेन्दु अधिकांश भाषा कवियों के समान नर-प्रकृति-वर्णन के ही कवि थे। उन्होंने मानवी-वृत्तियों के चित्रण का ही लक्ष्य रखा। न तो बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि की तरह स्वतंत्र रूप से प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण किया, और न ही मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर ही देखा। "मनुष्य के व्यापार परिमित और संकुचित हैं। अतः बाह्य प्रकृति के अनन्त और असीम व्यापारों के सूक्ष्म अंशों को सामने करके भावना या कल्पना को शुद्ध और विस्तृत करना भी कवि धर्म है, धीरे-धीरे लोग इस बात को भूल चले। इधर उच्च श्रेणी के भी जो कवि हुए उन्होंने अधिकतर मनुष्य की चित्तवृत्तियों के

विविध रूपों को कौशल और मार्मिकता के साथ दिखाया पर बाह्य प्रकृति की स्वच्छन्द क्रीड़ा की ओर कम ध्यान दिया।"

"धन, नदी, पर्वत आदि इन याचक (राजाश्रय-प्राप्त) कवियो को क्या दे देते जो वे उनका वर्णन करने जाते। सूर और तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने उसके पैर छानकर उसे गन्दी गलियों में भटकने के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों मे मखमल के सुर्ख बिछौने गड़ने लगे। यदि कोई षड्ऋतु की लीक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद् की चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टूक किये, कहीं किसी को प्रमोद से प्रमत्त किया।"

भारतेन्दु ने भी प्रकृति-प्रेम न दिखलाया। वे स्वभाव से भी प्रकृति के अनुरागी न थे। उर्दू-कविता के सपर्क ने भी उन्हे बाह्य-प्रकृति से दूर ही रखा। उनके गगा, यमुना आदि के वर्णन मे भी विशुद्ध प्रकृति-चित्रण का अभाव है।

निबधकला की दृष्टि से शुक्ल जी का यह निबन्ध साधारण ही है। इससे उनके विस्तृत अध्ययन, ऐतिहासिक जागरूकता और रसज्ञता का तो परिचय मिलता है, परन्तु उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का तथा शैली की उत्कृष्टता का इसमे अभाव-सा ही है।

तुलसी का भक्ति-मार्ग

"भक्तिरस का पूर्ण परिपाक जैसा तुलसीदास जी में देखा जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अंग है। तुलसी के हृदय से इन दोनो अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकले हैं जिनमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यन्त पवित्र प्रफुल्लता आती है। गोस्वामी जी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है।" आत्मोन्नति और कल्याण के साथ-साथ उसमे विश्वमंगल और लोक-कल्याण की भावना भरी हुई है। यह एकदेशीय या एकागदर्शी नही।

हमारा प्राचीन भक्तिमार्ग उपदेशो की सृष्टि करने वाला नही। न भक्तो के राम और कृष्ण उपदेशक थे, न उनके अनन्य भक्त सूर और तुलसी। भगवान् के लोकरजनकारी रूप का प्रत्यक्षीकरण ही उनका उद्देश्य है। "गोस्वामी जी ने अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके भीतर ही अनन्त शील की वह झलक

दिखाई है जिसके प्रकाश मे लोक का प्रमोदपूर्ण परिचालन हो सकता है। सौन्दर्य, शक्ति और शील—तीनों मे मनुष्यमात्र के लिए आकर्षण विद्यमान है। रूप-लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है।"

"चरम महत्त्व के इस भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव तरगें उठती हैं उन्हीं की माला विनयपत्रिका है। महत्त्व के नाना रूप और उन भाव तरंगों की स्थिति परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब समझनी चाहिए। भक्त मे दैन्य, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्मनिवेदन आदि की गभीरता उस महत्त्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार समझिए। महत्त्व का जितना ही सान्निध्य प्राप्त होता जाएगा, उतना ही अधिक स्फुट इन भावो का विकास होता जाएगा, और इन पर भी महत्त्व की आभा चढती जायगी।"

शुक्ल जी महत्त्व की अनुभूति को भक्ति का मूल तत्त्व मानते हैं। इसके साथ ही भक्त के हृदय मे अपनी लघुता की भावना जागती है। वह अपने दोषो का परिहार और मनका परिष्कार करता है। दैन्य भक्त का बडा भारी बल है।

"परम महत्त्व के सान्निध्य से हृदय मे उस महत्त्व में लीन होने के लिए जो अनेक प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न होते हैं, वे ही भक्तों के भाव हैं। कभी भक्त अनन्त रूप-राशि के अनुभव से प्रेम-पुलकित हो जाता है, कभी अनन्त शक्ति की झलक पाकर आश्चर्य और उत्साह से पूर्ण होता है, कभी अनन्त शील की भावना से अपने कर्मों पर पछताता है, और कभी प्रभु के दया-दाक्षिण्य को देख मन मे ढाढस बाधता है।" कभी अपनत्व की भावना से मीठा उपालभ भी भक्त देता है। शुक्ल जी तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी मे रखने के पक्ष मे नही है।

'भक्ति मे लेन-देन का भाव नहीं रह जाता। भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है।" तुलसी को राम का लोकरजनकारी रूप वैसे ही प्रिय है जैसे चातक को मेघ का लोक सुखदायी रूप। राम की भक्ति प्राप्त हो गई इसका लक्षण है सदाचार—मन का फिर पडना—

तुम अपनायो तब जानि हौं, जब मन फिरि परि है।

"प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते-करते भक्त अन्त मे जाकर उस अवस्था को प्राप्त करता है जिसमे वह अपने साथ-साथ समस्त ससार को उस

एक अपरिछिन्न सत्ता मे लीन होता हुआ देखने लगता है, और दृश्य भेदो का उसके ऊपर उतना ज़ोर नहीं रह जाता।"

मानस की धर्म-भूमि

"धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है यह हम कहीं कह आए हैं। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्व-स्थिति मे मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रो से लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा मे, लोक के परिचालन मे और समष्टिरूप मे, अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं, भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढी हुई भावना हमे प्राप्त होती है।"

सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति के अनुसार धर्म की ऊची नीची कई कोटियाँ लक्षित होती हैं। गृहधर्म, कुलधर्म आदि परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा लोक धर्म, विश्वधर्म के रूप म विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्चकोटि का है। सच्चे भक्त पूर्णधर्म या विश्वधर्म को ही अपनाते हैं, जो वस्तुत पूर्णपुरुष या पुरुषोत्तम म ही रहता है।

धर्म का स्वरूप और बात है, उसके पालन का स्वरूप और। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यन्त साधारण कोटि का हो सकता है—जैसे गरीबो का खून चूसने वाले किसी व्यक्ति का चीटियो को आटा खिलाना। इसी प्रकार निम्न भूमि क धर्म का आचरण उच्च से उच्च हो सकता है, जैसे किसी की भी सहायता न करने वाले का अपने डूबते मित्र को प्राणो पर खेल कर बचाना।

'ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्णधर्म स्वरूप हैं। राम के लीला-क्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान को इस स्थिति विधायिनी व्यक्त कला मे हृदय न रमाकर, बाह्य जगत् के नाना कर्मक्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके जो आंख मूद अपने अन्त करण के किसी कोने मे ही ईश्वर को ढूंढा करते हैं, उनके मार्ग से गोस्वामी जी का भक्तिमार्ग अलग है।"

"हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और नि श्रेयस दोनो की सिद्धि कही गई है। अत मोक्ष का—किसी ढग के मोक्ष का—मार्ग धर्ममार्ग से बिल्कुल अलग-अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक हृदय होता है। अत हमारे जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय मे है।" तुलसी की भक्ति मे तीनों का योग है। धर्म-भावना का तो उससे नित्य सम्बन्ध है। उनके 'मानस' मे धर्म की ऊची-नीची विविध भूमिया मिलती हैं। जहा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की भावना आती है वहा परिमित धर्म का उल्लघन करक लोकधर्म का पालन ही उत्तम समझा जाएगा। इसी व्यापक धर्म के पालन के लिए हाँ तो भरत अपनी माता को कठोर वचन सुनाते हैं। "धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के सुख दुख से सम्बन्ध रखने वाला होगा उतनी ही उच्च श्रेणी का माना जाएगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पडेगा वहा उत्कृष्ट पात्र के हृदय मे भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। इसी धर्म के पालन के लिए लोक-पीडक भाई का साथ छोड, गृह-धर्म या कुल-धर्म की अवहेलना कर, विभीषण राम-पक्षी बना।

○○

8

शुक्ल जी के निबंधों में उनका व्यक्तित्व

विषय प्रधान अथवा व्यक्तित्व-प्रधान—साहित्य मे साहित्यकार का व्यक्तित्व निहित रहता ही है। फिर निबन्ध तो सर्वथा वैयक्तिक प्रयास है। 'लेखक के व्यक्तित्व और उसके आन्तरिक भावो को साक्षात कराने मे ही निबन्ध की विशेषता है।' पश्चिम के आलोचक निबन्ध की विशिष्टता व्यक्तित्व की प्रधानता मे मानते हैं। बात है भी ठीक। किन्तु उनका विचारात्मक निबन्धो के सम्बन्ध मे प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि उनका वैशिष्ट्य विषय की प्रधानता मे माना जाय या व्यक्तित्व की प्रधानता मे। वास्तव मे विचारात्मक निबन्धो मे दोनो का ही महत्त्व रहेगा। दोनो साथ-साथ एक-दूसरे के पूरक होकर चल सकते हैं।

पश्चिम मे 'एस्से' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सोलहवी शताब्दी मे फ्रांसीसी लेखक मोन्तेन ने 'प्रयत्न' के अर्थ मे किया था। यही मोन्तेन महोदय साहित्य की इस विधा के प्रवर्तक माने जाते हैं। उसने अपने लेखो के सम्बन्ध मे कहा है—"ये मेरी व्यक्तिगत भावनाएं हैं।" वास्तव मे मोन्तेन ने अपने हृदय के उद्‌गारो तथा मानवीय जीवन के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओ को ज्यो-का-त्यो बिना किसी तारतम्य और शृखला के शब्दबद्ध कर दिया था। मन के भावो की अभिव्यक्ति की यह पद्धति उस समय नई थी और उसने इसे 'एस्से' के नाम से पुकारा। पहले-पहल वर्षों तक अग्रेजी एस्से मे विषय की सुसम्बद्धता और शृखला तथा कला-लाघव का अभाव रहा। एस्से के मोन्तेन द्वारा प्रचलित इस रूप को देखकर ही डा० जानसन ने 'एस्से' की परिभाषा दी—Essay is a loose sally of mind, an irregular, indigested piece, not a regular and orderly performance." परन्तु अब एस्से को स्वच्छन्द मन का असम्बद्ध विचरण नही माना जाता। 17वी शताब्दी से ही पश्चिम मे भी एडिसन, लैम्ब, पेटर आदि लेखको ने विषय की सम्बद्धता को निबन्ध का गुण माना है। हर्बर्ट रीड ने निबन्ध को "किसी विषय का व्यक्तिगत विश्लेषण' कहा है। एक अग्रेज समीक्षक ने निबन्ध मे विषय की बजाय व्यक्ति की प्रधानता पर जोर देते हुए लिखा है—"An essay is a thing which someone does himself, and the point of the essay is not the subject, for any subject will suffice, but the charm of personality" इस सम्बन्ध मे हमारा कथन यही है कि

निस्सदेह निबन्ध वैयक्तिक प्रयास होता है, पर विचारात्मक निबन्धो मे यह प्रयास विषय से ही सम्बद्ध होता है। 'any subject will suffice" से विषय की अव-हेलना का अर्थ नही लिया जा सकता। विचारात्मक निबन्ध-लेखक सुचिंतित विषय पर ही लेखनी उठाता है और उसे अपनाकर उसमे अपना वैयक्तिक प्रयास दिखाता है। इस प्रकार विचारात्मक निबन्धो मे विचारो की सगठित, मौलिक परम्परा के कारण विषय की प्रधानता तो रहनी ही चाहिये। किन्तु उसके साथ ही लेखक के व्यक्तित्व के प्रकाशन से उसका कोई विरोध नही है।

इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी के विचारो का उल्लेख करना भी समीचीन होगा। उन्होने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे लिखा है—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणो के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नही कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृखला रखी ही न जाए या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड दी जाए, भावो की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाए जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालो सी कसरतें या हठयोगियो के से आसन कराये जाएँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"

'ससार की हर एक बात और सब बातो से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक सघटन के अनुसार किसी का मन किसी सबन्ध सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर · · ···जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर अर्थ-सबन्ध-सूत्र पकडे हुए करुण स्थलो की ओर झुकता और गभीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षो की ओर दौडती है जिन्हें सामने पाकर कोई हसे बिना नही रह सकता। (पृष्ठ 505—6)

इस प्रकार हमने देखा कि निबन्ध मे व्यक्तित्व की विशिष्टता शुक्ल जी भी स्वीकार करते हैं, परन्तु विषय को ताक पर रखकर नही। वास्तव मे निर्बन्ध निबन्धो मे निबन्ध का वैशिष्ट्य व्यक्ति की प्रधानता मे अधिक रहता है, किन्तु परिबध या विषय-प्रधान निबन्धो मे विषय-प्रतिपादन की महत्ता कुछ अधिक रहती है और उस विषय प्रतिपादन मे ही निबन्धकार का व्यक्तित्व भी खूब उभर आना चाहिए। शुक्ल जी के निबन्ध विषय प्रधान ही हैं क्योकि उन्होने सर्वत्र विषय को महत्ता दी है, निजी व्यक्तित्व के प्रकाशन को नही। जहा कही उन्होने इधर-उधर अपनी मन प्रवृत्ति के अनुसार दृष्टि दौडाई है, वहा भी वे अर्थ-सम्बन्ध-सूत्रो को पकडे हुए रहते है जिसके कारण विषयातर कही नही होने

पाया। किन्तु फिर भी उनके इन निबन्धों में उनका व्यक्तित्व भी सजीव हो उठा है।

शुक्ल जी ने चिंतामणि के निवेदन में कहा है—"इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषयप्रधान हैं या व्यक्तिप्रधान।" वास्तव में मैं समझता हूँ कि शुक्ल जी का इस सम्बन्ध में कुछ न कहना साभिप्राय है। जो निबन्धों में केवल व्यक्ति की प्रधानता या विषय की प्रधानता ही ढूंढा करते हैं, उनको शुक्ल जी अपने निबन्धों के सम्बन्ध में कुछ न कहकर यही बताना चाहते हैं—जैसा कि उनके इतिहास के उदाहरण से भी स्पष्ट है—कि निबन्धों में यदि *विषय की प्रधानता हो तो भी उसमें व्यक्तित्व के प्रकाशन का कोई विरोध नहीं।* निबन्धों में विषय की प्रधानता होते हुए भी व्यक्तित्व का पूरा प्रकाशन हो सकता है।

लेखक के उद्देश्य, प्रवृत्ति और शैली तथा पाठक की उपलब्धि आदि की दृष्टि से शुक्ल जी के निबन्ध हैं विषय प्रधान ही। उन्हें व्यक्ति-प्रधान निर्बन्ध निबन्ध नहीं माना जा सकता। शुक्ल जी ने अपनी बौद्धिक यात्रा में पड़ने वाले कुछ चिंतन-मनन-प्रधान विषयों को चुना है, और अपनी ओर से उनकी पूर्ण विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। शुक्ल जी निश्चित रूप से इन गूढ़ विषयों के सम्बन्ध में पाठकों की जानकारी कराना ही नहीं, अपितु उनकी बुद्धि को उत्तेजित करना चाहते हैं। उनका उद्देश्य गंभीर स्थायी विषयों का मार्मिक विवेचन है। आरम्भ से अन्त तक वे विषय का क्रमिक प्रतिपादन करते हुए, विषय से बंधकर चलते हैं। अनेक स्थलों पर उनकी अपनी जीवन-अनुभूतियों, व्यक्तिगत संस्मरणों और घटनाओं का उल्लेख हुआ है, किन्तु वे सब निबन्ध में अनिवार्य रूप से विषय से सम्बद्ध होते हैं।

शुक्ल जी के इन निबन्धों में पाठक का भी सर्वाधिक ध्यान विषय की ओर रहता है और उसकी बुद्धि विषय के गंभीर पक्षों पर दौड़ती है। इस प्रकार पाठक के ग्रहण करने की दृष्टि से भी निबन्ध विषय प्रधान ही माने जायेंगे। इन निबन्धों की शैली भी विषय-प्रधान निबन्धों की गंभीर विवेचनात्मक शैली है। इस प्रकार क्या लेखक के उद्देश्य की दृष्टि से, क्या निबन्धों के स्वरूप और शैली की दृष्टि से तथा क्या पाठक की दृष्टि से, शुक्ल जी के निबन्ध विषय-प्रधान ही हैं। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विषय-प्रधान होते हुए भी वे व्यक्ति-निष्ठ हैं। *उनमें शुक्ल जी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है।* शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्धों में विशेषकर 'चिंतामणि' I के निबन्धों में विषय और व्यक्तित्व का जैसा सुयोग है, वैसा बहुत कम देखने में आता है। विषय के गंभीर और सूक्ष्म प्रतिपादन में जो लेखक अपनी भावात्मक प्रकृति, अपनी शैलीगत

विशिष्टता भी खुलकर दिखा जाता है, उसकी निबन्ध कला के उत्कर्ष मे क्या सदेह हो सकता है। ससार भर के साहित्य मे बहुत कम ऐसे विचारात्मक निबन्धकार मिलेंगे, जिनके निबन्धो मे विचारो की गहन-गुफित परम्परा के साथ-साथ व्यक्तित्व का भी त्रिविध मार्मिक प्रकाशन हुआ हो।

शुक्ल जी के निवन्धो मे उनके त्रिविध व्यक्तित्व का प्रकाशन पूरी तरह से हुआ है। एक तो उनके निबन्धो मे उनके व्यक्तिगत विचारो की मौलिक छाप सर्वत्र पाई जाती है। उनके निबन्ध उनके अपने गभीर अध्ययन, चिंतन और मनन के द्योतक हैं। उनकी विशिष्ट विचारधारा, लोकादर्शवाद, समाज तथा जीवन-दर्शन, उनकी अपनी साहित्यिक मान्यताएँ, मत और सिद्धान्त स्थान-स्थान पर उनके निबन्धो मे प्राप्त होते हैं। शुक्ल जी के विशिष्ट जीवन दर्शन तथा लोकादर्शवाद, और साहित्य-समालोचक के रूप पर हमने आगे विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। भगवद्भक्ति के सम्बन्ध मे निजी विचारो की व्यक्तिगत स्थापना का एक उदाहरण देखिए "भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की वही पद्धति (लोक-जीवन बद्ध-प्रेम) समीचीन मानते है जबकि प्रिय के सम्बन्ध से सारा जगत् प्रिय हो जाता है। हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार मे ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं। क्योकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी ससार से होता हुआ गया है। जब कोई राम-भक्त पुत्र-कलत्र, भाई बधु का राग छोडने, कर्म-पथ से मुह मोडने और जगत् से नाता तोडने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है।" 'मैं' शैली मे वैयक्तिक मान्यता की इस स्थापना मे उनका व्यक्तित्व पूर्ण सजीव है। अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया भी वे साथ-साथ देते चलते है। दूसरे, उनकी अपनी भावात्मक प्रवृत्तियो, विशिष्ट रुचियो-अरुचियो, विषय के प्रति निजी भावात्मक प्रतिक्रियाओ, व्यक्तिगत भावनाओ, अनुभूतियो अर्थात् उनके आन्तरिक भावो के साक्षात् करने के रूप म उनका व्यक्तित्व स्थान-स्थान पर प्रकट हुआ है। यह भाव वैशिष्ट्य कई रूपो मे दिखाई देता है—

क **साहित्य के भावों की अभिव्यक्ति में**—जैसे शील के प्रसंग पर रामचन्द्र जी के शील का मोहक रूप—सुनि सीतापति सील सुभाउ—आदि (श्रद्धा-भक्ति) भगवान् के सामीप्य की बात पर रसखान के 'मानुप हो तो वही रसखान'···वाले प्रसिद्ध सवैये का उदाहरण देना, प्रिय के सुख की चिंता के लिये सूर का 'सदेसो देवकी सो कहियो' पद, ग्लानि से भरत की ग्लानि का वर्णन आदि।

ख **सामाजिक बुराइयों के प्रति भावात्मक व्यंग्यात्मक प्रतिक्रिया के रूप मे**—जैसे 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध मे झूठे सार्वजनिक उद्योग कर्ताओ, नकलचियो (हितोपदेश के गधे ने तो बाघ की खाल ही ओढी थी, पर ये

लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं), झूठी श्रद्धा करने और करवाने वालो पर फबतिया, 'उत्साह' नामक निबन्ध में हिन्दू जाति की अकर्मण्यता पर सुन्दर चोट—श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पडे कि गरमी म ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार मे लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे।" 'लोभ और प्रीति' मे लोभियो पर फबती आदि।

ग क्षात्र धर्म के अमर पुजारी के रूप मे शुक्ल जी का व्यक्तित्व सर्वत्र स्पष्ट है। यह उनके लोकादर्शवाद का ही प्रमुख रूप है। इसकी अभिव्यक्ति म कभी-कभी उपर्युक्त व्यग्य के स्थान पर उनका क्षात्र-तेजमय आक्रोश स्पष्ट दिखाई देता है। 'लोभ और प्रीति' मे ये पक्तिया देखिए— 'जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा, तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शाति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र-धर्म की ससार मे एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।"

घ व्यक्तिगत रुचियों-अरुचियों को प्रकट करके—जैसे पक्के रागियो से नफरत, देश के कण-कण से अनुराग जताने वाला उत्कट देश-प्रेम, प्रकृति से प्रेम, प्रकृति के साधारण-असाधारण सभी रूपो से अनुराग, अतीत-प्रेम, वर्तमान व्यवसाय युग की सभ्यता और सस्कृति को मर्कट और मत्स्य तुल्य मानना आदि।

ङ वैयक्तिक सस्मरणों, प्रसगों और घटनाओं की अभिव्यक्ति मे भी शुक्ल जी के व्यक्तित्व का सुन्दर प्रकाशन उनके निबन्धो मे हुआ है। 'मैं' शैली मे अपने से सम्बद्ध घटनाओ और अनुभूतियो को प्रकट करके शुक्ल जी ने अपनी अमिट छाप निबन्धो पर लगा दी है। इन प्रसगो से उनकी व्यक्तिगत भावनाओ, प्रतिक्रियाओ का ही प्रकाशन हुआ है। जैसे 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध मे एक लखनवी दोस्त के साथ साची का स्तूप देखने का प्रसग और उसमे उनका प्रकृति प्रेम तथा आजकल के बाबुओ पर फबती, 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध मे शुक्ल जी एक दुकानदार की उक्ति पर अपना व्यग्य प्रकट करते हुए सुनाते हैं—'एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दुकान पर कुछ परदेशी

यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे कि इतना नहीं-इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दुकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये और उन्होंने चट कहा—माया छोड़ो और इसे ले लो।" इसी प्रकार 'क्रोध' नामक निबंध में शुक्ल जी लिखते हैं—"एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूंकते-फूंकते थक गये। जब आग न जली तब उस पर क्रोध करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए।" 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विभिन्न अनुभवों पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"रात्रि में, विशेषतः वर्षा की रात्रि में भींगुरों और भिल्लियों के भंकार मिश्रित सीत्कार का बंधा तार सुनकर लड़कपन में मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।" 'लज्जा और ग्लानि' में व्यंग्य-मिश्रित तथ्य को प्रकट करते हुए कहते हैं—"मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है।" कहीं-कहीं यह आत्म-कथा-तत्त्व भावतिक शैली में भी व्यक्त हुआ है, जैसे—"थोड़े दिन हुए किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिए होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं, पर पागलपन की नकल करना कुछ हंसी-खेल नहीं, भूलचूक से कुछ समझदारी की बातें मुंह से निकल ही जाती हैं।"

तीसरे, 'Style is the man himself' की उक्ति शुक्ल जी पर पूर्ण सार्थक बैठती है। शुक्ल जी की गंभीर विवेचनात्मक व्यंजना प्रधान समास शैली उनके *व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा स्मारक है। शुक्ल जी की किन्हीं पंक्तियों को उठा* लीजिए, लगेगा कि इनका लेखक बहुत गहरा सोचता है। उसका अध्ययन विस्तृत है और वह गंभीर प्रकृति का मालिक है। हिन्दी के इने-गिने शैली-निर्माताओं में शुक्ल जी का विशिष्ट स्थान है। उनकी शैली की व्यक्तिगत विशेषताओं पर हम आगे गद्य-शैली प्रकरण में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

इस प्रकार हमने देखा कि शुक्ल जी के *निबन्धों में विषय के साथ व्यक्तित्व* की निहिति स्वतः ही हो गई है। उनमें दोनों तत्त्वों का उपयुक्त और संयत सन्निवेश मिलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रहे कि उनका व्यक्तित्व *जितना मनोभावों सम्बन्धी निबन्धों में खुलकर प्रकट हुआ है उतना अन्य निबन्धों* में नहीं। विषय और व्यक्तित्व दोनों के संयत सन्निवेश की उपर्युक्त स्थापना उनके केवल *मनोभावों सम्बन्धी निबन्धों को दृष्टि में* रखकर की गई है। उनके शेष निबन्धों में व्यक्तित्व का पुट अपेक्षाकृत कम है। 'चिंतामणि'—1 के अन्य

निबन्धों मे भी व्यक्तित्व पर्याप्त मात्रा मे प्रकट हुआ है, किन्तु—'चिंतामणि' 2. के प्रबन्ध-निबन्धो मे व्यक्तित्व की और भी कमी पाई जाती है। इन निबन्धो मे हम विषयी को बहुत बार भूल सकते हैं, पर विषय को नही भूल सकते इसलिए ये निबन्ध शुक्ल जी के वैसे व्यक्ति-निष्ट निबन्ध नही माने जा सकते, जैसे मनोभावो के निबन्ध हैं। *यही बात उनके 'भक्ति का विकास'*, 'वल्लभाचार्य', जायसी आदि पर आलोचनात्मक प्रबन्धो के बारे मे कही जा सकती है।

○○

9

शुक्लजी के निबंधों में बुद्धि-तत्त्व

(क) शुक्लजी का समाज-जीवन-दर्शन

एक पाश्चात्य समीक्षक का कथन है—"The essayist, is his particular fashion, is an interpreter of life He does not see life as the historian or as the philosopher or as the poet or as the novelist and yet he his a touch of all these" अर्थात निबंधकार अपने विशेष रूप मे एक जीवन का व्याख्याता, जीवन का आलोचक होता है। वह एक-इतिहास-वेत्ता या एक दार्शनिक अथवा कवि या उपन्यासकार की तरह जीवन का अवलोकन नही करता, किन्तु इन सबका मिश्रित रग उसमे पाया जाता है। इस दृष्टि से निबंधकार रामचन्द्र शुक्लजी की एक बहुत बडी विशेषता है उनका जीवनावलोकन या जीवन की व्याख्या। यद्यपि उन्होने एक उपन्यासकार या *महाकाव्यकार अथवा किसी समाज-शास्त्री और इतिहासकार की तरह जीवन* की व्याख्या प्रस्तुत नही की, तो भी उनके जीवन-दर्शन मे एक उपन्यासकार की-सी व्यापकता और व्याख्या है, एक कवि की-सी मार्मिक अनुभूति है, एक इतिहास-वेत्ता की-सी ऐतिहासिक दृष्टि है और समाज-शास्त्री एव दार्शनिक की-सी गहराई और सूक्ष्मता पाई जाती है। यद्यपि उन्होने समाज-शास्त्रीय या सास्कृतिक-ऐतिहासिक विषयो पर लेखनी नही चलाई, फिर भी उनके निबंधो मे जीवन और समाज सम्बन्धी विचारधारा इतनी व्यापकता, सूक्ष्मता गहराई और पूर्णता से प्राप्त होती है, कि उनकी प्रतिभा के आग आश्चर्यचकित हो नतमस्तक होना पडता है। उनके निबंधो मे जीवन-सम्बन्धी अमूल्य विचार मोतियो की तरह बिखरे पडे हैं।

साहित्य और जीवन—शुक्लजी एक बहुत बडे वस्तुवादी, जनवादी, जीवन-वादी आलोचक और विचारक थे। उनके हृदय मे जनता और देश के लिए अगाध ममता थी। उन्होने साहित्य की जनवादी, समाजिक शक्ति को जगाया। वे साहित्य और जीवन को निकट लाये। उन्होने जीवन और साहित्य के भावों मे मूल अन्तर नही देखा। रस के अलौकिकत्व को उन्होने लौकिक सिद्ध किया। रस की स्थिति काव्य से अलग लौकिक जीवन मे भी बता कर जीवन के महत्त्व को स्थापित किया। उन्होने लोकजीवन की ठोस धरती पर पैर जमा कर अपनी *साहित्यिक स्थापनाए की हैं। काव्य की कसौटी लोक-सामान्य की भाव-भूमि*

निर्धारित करके शुक्लजी ने हर तरह की व्यक्तिवादी और भाववादी संकुचित धारणाओ से साहित्य को मुक्त करने का प्रयास किया और उसे सामाजिक जीवन का अंग बनाया।

शुक्लजी जगत और जीवन की सत्यता को स्वीकार करने वाले, जगत और जीवन मे ही अपार सौन्दर्य-माधुर्य देखने वाले साहित्याचार्य थे। मनुष्य के भावो का स्रोत यही नाना रूपात्मक जगत है। इससे बाहर सौन्दर्य की स्थिति वे स्वीकार नही करते। वे मानव ज्ञान को भी लोक-बद्ध मानते हैं। ज्ञान इस व्यक्त और गोचर रूप-जगत् का ही होता है, अज्ञात, रहस्यमयी अगोचर शक्ति का नहीं। वे 'अध्यात्मक' शब्द को हो काव्य मे स्थान नही देना चाहते।

उनके अनुसार कविता की प्रेरणा प्रवृत्तिमूलक है। काव्य व्यवहार का बाधक नही। वह कर्मण्यता जगाता है। कलावादियो की तरह वे कविता को मनोरंजन, विलास या क्रीडा की वस्तु नही मानते। वे स्पष्टत: ललकार कर कहते हैं—"काव्य को हम जीवन से अलग नही कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते है। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नही सकते।" (काव्य मे अभिव्यजनावाद)। कविता को वे खुशामद और दिल-बहलाव की वस्तु नही मानते थे। इसीलिए उन्होने रीतिकाल की शृगारिक रचनाओ का विरोध किया। ये रचनाएँ जीवन के प्रगतिशील तत्त्वों से रहित और यथार्थ जीवन से दूर थी। कल्पनावादियो को भी वे स्पष्ट कहते हैं कि 'कल्पना' इस वस्तुजगत से अलग किसी अन्य अद्भुत सृष्टि की रचना नही करती। इस प्रकार शुक्लजी एक कर्मठ जन-साहित्यकार थे। लोक-हृदय, लोक-मंगल या लोक-हित की अवहेलना करके रचे गए साहित्य की वे कल्पना ही नहीं करते थे। उनके आदर्श कवि गोस्वामी तुलसीदास की ये पक्तिया उनके विचार-स्वरूप भी प्रस्तुत की जा सकती हैं—

कीरति, भणिति, भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

लोक-जीवन और कर्म-सौन्दर्य की भावना की प्रतिष्ठा के लिए ही वे भारतीय प्रबधकाव्यो और उनकी लोक-जीवनबद्ध प्रेम-पद्धति की प्रशसा करते हैं—"भारतीय प्रबंधकाव्यो की मूल प्रवृत्ति लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदि कवि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलो और बगीचो मे न दिखाकर दडकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग मे माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने मे चौकडी या आहे भराने वाला नही।" (लोभ और प्रीति)। शुक्लजी इसी लोक-जीवनबद्ध प्रेम के हामी हैं। "उस

ऐकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे मे उसी प्रकार बन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी मे डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक सजीवन रस के रूप मे प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है।" (लोभ और प्रीति)।

मनोविज्ञान और जीवन—हम पीछे कह आये हैं, शुक्लजी का मनोविज्ञान व्यावहारिक और नीति-प्रधान है। उसका एक ठोस सामाजिक आधार है। उनके भाव-निरूपण का उद्देश्य भी मनुष्य की व्यावहारिक, स्वाभाविक प्रवृत्ति को जगाना है। वे प्रत्येक मनोविकार का सामाजिक दृष्टि से अवश्य विचार करते हैं। पश्चिम के मनोविज्ञान की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को उन्होने नही अपनाया, न ही जड यान्त्रिक भौतिकवादियो की उस विचारधारा को माना, जिसमे व्यक्ति को केवल परिस्थितियो का दास समझकर उसकी स्वतत्र शक्तियों की उपेक्षा की जाती है। उनके मनोविज्ञान-निरूपण की समाज-शास्त्र को अद्‌भुत देन है। वे प्रत्येक भाव के समाज-उपयोगी-अनुपयोगी पहलू पर अवश्य प्रकाश डालते हैं। ईर्ष्या के सम्बन्ध म उनका कथन है—"ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।" वे ईर्ष्या को अनावश्यक भाव बताकर उसकी तुलना मे स्पर्द्धा का महत्त्व आकते हैं। "स्पर्द्धा ससार मे गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगो की सख्या में कुछ वढती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी।" सामाजिक जीवन मे अत्याचारी-अन्यायी से समाज की स्थिति-रक्षा के हेतु वे क्रोध को आवश्यक बताते हैं। *लोक पीडक रावण के दमन मे प्रवृत्त राम के आग्नेय नेत्रो मे भी उन्हे* अद्‌भुत सौन्दर्य दिखाई दिया। "क्षमा जहा से श्रीहत हो जाती है, वही से क्रोध के सौन्दर्य का आरभ होता है।" (क्रोध)। वे मगल का विधान करने वाले दो भाव बताते हैं, करुणा और प्रेम। इनमें भी "हमारे यहाँ के कवियो ने लोक-रक्षा के विधान मे करुणा को ही बीज भाव रखा है।" "दूसरो की पीडा-वेदना देख जो करुणा जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति होती है"—(रसात्मक बोध के विविध रूप)। शील के लिए वे लज्जा और सकोच को आवश्यक बताते हैं, पर साथ ही इन की अतिशयता लोक-व्यवहार-बाधक भी कहते हैं। ग्लानि को वे आत्म-परिष्कार का हेतु बताते हैं। श्रद्धा और भक्ति की भी वे सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करते हैं। 'उत्साह' मे वे कर्मयोग की प्रतिष्ठा करते हैं। वे लोकहित को ही भावो के शुभाशुभ रूप को परखने की कसौटी बताते हैं। "किसी *भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या* अशुभ परिणाम से होता है।" (उत्साह)। इस प्रकार उनके निबधो से सैकडो उद्धरण देकर यह दिखाया जा सकता है कि उनके भाव विवेचन की आधार-शिला लोकहित, लोकादर्श और लोक-व्यवहार है।

शुक्लजी का कर्म-दर्शन—क्षात्र-धर्म के कर्म-सौन्दर्य के सच्चे उपासक— शुक्लजी का जीवन-दर्शन पूर्णतः प्रवृत्तिमूलक है। वे निवृत्ति के मार्ग को घोर पाखण्ड मानते हैं। सम्पूर्ण भाव-निरूपण प्रवृत्ति की भावना को जागृत करने वाला है। वे कर्म-सौन्दर्य के सच्चे उपासक थे। गीता के निष्काम कर्म की जैसी सुन्दर व्याख्या उन्होने अपने 'उत्साह' निबंध मे की है, वह इस प्रकार भाव-निरूपण में अन्यत्र मिलनी कठिन है। वे हिन्दू जाति की अकर्मण्यता पर जबरदस्त चोट करते हैं। वे कर्म-मार्ग के सच्चे राही ही नही, पथ-प्रदर्शक भी हैं। "कर्म मे आनन्द अनुभव करने वालो ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान मे ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं।" (उत्साह)। ससार से तटस्थ रहने वाले, मोक्षकामी व्यक्तियों को शुक्लजी ढोंगी मानते हैं। उनका कथन है—"ससार से तटस्थ रहकर शांति-सुख-पूर्वक लोक-व्यवहार-सम्बन्धी उपदेश देने वालो का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू-धर्म मे नही है जितना संसार के भीतर घूमकर उसके व्यवहारो के बीच सात्त्विक विभूति की ज्योति जगाने वालों का है।······रागो के सम्पूर्ण दमन की अपेक्षा रागो का परिष्कार ज्यादा काम मे आने वाली बात है। निर्लिप्त रहकर दूसरो का गला काटने वालो से लिप्त होकर दूसरों की भलाई करने वाले लोक-कल्याण के विचार से कही अच्छे हैं।" (श्रद्धा-भक्ति)

शुक्लजी का यह कर्म-मार्ग भी क्षात्र-धर्म से सम्बन्धित, अत्याचार का दमन करने वाला प्रचड कर्ममार्ग है। "अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त मे जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है।" (उत्साह)। "कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र-जीवन मे जितने रूपो मे सभव है, उतने रूपो मे और किसी जीवन मे नही। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुःख-कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि कर्म-सौन्दर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते है?" (श्रद्धा-भक्ति)। 'क्षात्र धर्म-पालन की आवश्यकता संसार मे सबदिन बनी रहेगी', ऐसा शुक्लजी का विचार है। वे 'शठे शाठ्य समाचरेत्' वाली नीति के पक्ष मे हैं। तभी तो वे टाल्सटाय के अहिंसात्मक प्रतिरोध तथा अत्याचारी को भी गले-लगाने वाली नीति का विरोध करते हैं। "भारतीय महाकाव्यकारो ने अपने चरितनायकों को सदैव अन्यायी और लोक-पीडक का दमन करते हुए दिखाया है। कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण मे ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय

के समय से चला है, वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुचाने वाले क्रूर आततायियो को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने मे ही कर्त्तव्य की सीमा नही मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एक मात्र सौन्दर्य नही कहा जा सकता।" (लोकमगल की साधनावस्था)। 'काव्य मे रहस्यवाद' नामक निबंध मे भी उनके यही विचार प्रकट हुए हैं—' विचारने की बात है कि दूसरो की निरन्तर बढती हुई पीडा को देख-देख अत्याचारियो की सुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने मे अधिक सौन्दर्य का विकास है कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीडितो और अत्याचारियो के बीच उत्साहपूर्वक खडे होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीडा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने मे। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामजस्य मे मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।" 'श्रद्धा-भक्ति' निबंध मे भी शुक्लजी लोक-सग्रह की दृष्टि से अत्याचारी को दण्ड देना आवश्यक बताते हैं—"यदि कहो पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और ससार के समक्ष रखना, लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किए जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोडना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो, पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नही खीचता है तो लोक-सग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है, जिस प्रकार अपने ऊपर किए हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।" 'लज्जा और ग्लानि से—"लोक-व्यवहार की दृष्टि से अनिष्ट से बचने-बचाने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टो का हाथ थामे और धृष्टो का मुह। उनकी वदना करके हम पार नही पा सकते। इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे। असामर्थ्य हमे क्षमा या सहनशीलता का श्रेय भी पूरा-पूरा नही प्राप्त करने देगी।"

सब प्रकार के अन्याय और अत्याचार तथा अधर्म का एकमात्र इलाज वे क्षात्र-धर्म को मानते है। आज के व्यापार-युग मे जो आर्थिक वैषम्य है, जो व्यापारोन्माद छाया हुआ है, जो आपा-धापी देश-देश मे मची हुई है, उसका भी एकमात्र उपाय क्षात्र-धर्म है। "जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तबतक इस पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र-धर्म की ससार मे एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी। चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।" (लोभ और प्रीति)।

शुक्लजी कर्म-मार्ग की ऊची-नीची कोटियाँ बताते हुए, परिमित धर्म की अपेक्षा विस्तृत धर्म को अपनाने का समर्थन करते हैं। लोक-धर्म या समाज-धर्म या विश्व-धर्म की रक्षा के लिए जाति-धर्म का, जाति-धर्म या समाज-धर्म की रक्षा के लिए कुल-धर्म या गृह-धर्म का त्याग ही कर्तव्य है। "धर्म जितने ही अधिक

विस्तृत जनसमूह के सुख-दुख से सम्बन्धित होगा उतनी ही उच्च श्रेणी का माना जायगा"--(मानस की धर्म-भूमि)।

भगवद्भक्ति और लोक-जीवन—शुक्लजी का प्रवृत्तिमूलक दर्शन भला निवृत्तिमार्गी आध्यात्मिक साधना या भक्ति को कब सहन करता? वे भगवान् के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति इसी जगत् में स्वीकार करते हैं। जगत और जीवन को त्याग कर घट के भीतर किसी अज्ञात अदृष्ट की साधना और खोज न उनको स्वीकार थी, न उनके आदर्श बाबा तुलसीदास को। वे स्पष्ट कहते हैं—भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं, जबकि प्रिय के सम्बन्ध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्तिमार्ग में जगत् से विरक्ति का स्थान हम ढूढ़ते हैं और नहीं पाते'''जब कोई रामभक्त पुत्र-कलत्र, भाई-बंधु का राग छोड़ने, कर्मपथ से मुंह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही रामभक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चीटियां बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आंसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीडा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है। लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठना और खिले हुए फूलों को देख खिल जाना है।" (लोभ और प्रीति) इस प्रकार शुक्लजी एक सच्चे जीवनवादी विचारक थे, एक पूर्ण लोकाराधक थे। वे हर मत और सिद्धांत को, अध्यात्म को, बुद्धि की कसौटी पर कसते थे। उन्होंने सृष्टि के विकास का क्रम विकासवाद के बुद्धिगत सिद्धांत के अनुसार ही स्वीकार किया है। 'भक्ति का विकास' तथा 'तुलसी का लोक-धर्म' नामक निबंधों में उन्होंने भक्ति का विकास मानवता के इसी विकासवादी सिद्धांत के आधार पर दिखाया है। वे सभ्यता के विकास के साथ ही 'भय' की सीढ़ी पार करने पर भक्ति का विकास दिखाते हैं। वे अंधविश्वासी या बुद्धि की अवहेलना करने वाले नहीं थे।

देश-प्रेम—शुक्लजी सच्चे देशानुरागी थे। वे देश-प्रेम की कसौटी यह नहीं मानते कि देश हितैषिता के नाम पर सभा-सोसाइटियों के रंग मंचों पर मेजें पीटी जायें। वे सच्चा देश-प्रेमी उसे ही मानते हैं, जो देश के कण कण से अनुराग रखता हो, जो देश की मिट्टी को मस्तक पर धारण करता हो, जो देश के लोगों के सुख-दुख का भागी बनता हो। वे झूठे बाबुओं पर फबती कसते हैं, जो देश-प्रेम के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था का हिसाब-किताब किया करते हैं, और जिन्हें अपने देश के गरीब भाइयों से नफरत होती है। "जन्मभूमि का प्रेम,

स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है, तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-गुल्म, पेड़-पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सब को वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाईयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुख के तुम कभी साथी न हुए, उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता।·· रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थकेमाँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझकर, या कम-से-कम न खीझकर बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैला होने देंगे?" (लोभ और प्रीति)। 'कविता क्या है' निबंध में भी देशानुराग की यही भावना प्रकट हुई है—'पूर्वमेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है।"

शुक्लजी समाज में ऊंच-नीच और श्रेणी विभाग का विरोध करते हैं। समाज में व्यक्तियों के काम-काज में छोटाई-बड़ाई का निषेध करते हुए वे कहते हैं—"न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंटें जोड़ता है। समाज-कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो जाता है उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है।" (ईर्ष्या)

वे सब प्रकार के अन्याय, अत्याचार, अनीति और ढोंग-आडम्बर के विरुद्ध थे। कबीर की तरह जहाँ कहीं भी उन्हें अनाचार दिखाई पड़ा, वहीं वे अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया, आलोचना या फटकार सुनाते हैं। योरप के पूंजीवादी, साम्राज्यवादी व्यापारोन्माद का, जिसके कारण देशप्रेम के नाम पर एक देश

दूसरे देश का आर्थिक शोषण करता है, विरोध करते हुए शुक्ल जी कहते हैं—"प्राचीन काल मे जिस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान मे हुई थी उसने आगे चलकर योरप मे बडा भयकर रूप धारण किया। योरप के देश के देश इस धुन मे लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशो से जहाँ तक धन खींचा जा सके बराबर खींचा जाता रहे।'''योरप के अर्थोन्मादियो ने ऐसी गूढ, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूमडल की न-जाने कितनी जनता का श्रम-श्रम से रक्त चुसता चला जा रहा है—न-जाने कितने देश चलते-फिरते ककालो के कारागार हो रहे हैं।" उक्त उद्धरण से शुक्ल जी का कितना मानव प्रेम व्यजित होता है!

वर्तमान सभ्यता—शुक्ल जी वर्तमान कृत्रिम सभ्यता के विरुद्ध हैं, जिसमे मानव-मानव का सच्चा प्रेम, सच्चा व्यवहार नही रहा। स्वार्थों की वृद्धि हो गई है। जीवन मे कृत्रिमता आ गई है। सच्ची सहानुभूति के स्थान पर झूठे सहानुभूति के तार दिए जाते हैं। "आजकल की बनावटी सभ्यता या शिष्टता मे 'घृणा' शब्द वैर या क्रोध को छिपाने का भी काम दे जाता है।"—(घृणा)। आज के टकाधर्म पर फबती कसते हुए वे कहते हैं—"आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरो पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राजसम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है, बडे-बडे विद्यालयो मे अपने लडको को भेज सकते हैं, न्यायालयो मे फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं और महगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यन्त भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए"—(लोभ और प्रीति)। "कुछ दिनों पहले की सभ्यता मनुष्य जीवन को देव-तुल्य बनाने में थी, अब मर्कट तुल्य और मत्स्यतुल्य बनाने मे समझी जाने लगी है।" (श्रद्धा-भक्ति)।

इस प्रकार 'गेरुआ वस्त्र लपेटे, धर्म का डका पीटने वालो,' 'देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहन' देशोद्धार का ढोंग रचने वालो, झूठी श्रद्धा करने और कराने वालो, नानाप्रकार के प्रपचो को सभा-सोसाइटियो के मचो से उठाने वाले वाग्वीरो, "अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्यं साधयेत' अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिए और दलाल, कचहरियो के अमले और मुख्तार" आदि अर्थपरायणा तथा "अपने स्वरूप-वैचित्र्य और अपने अभाव की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए" "मनुष्यों के भावो से खेलने वाले" धर्मशासक और राजशासक आदि सब प्रकार के ढागियों और अनाचारियो के प्रति शुक्ल जी की भर्त्सना व्यजित हुई है। वे मानवता के हितैषी एव सच्चे मानव-श्रेष्ठ थे।

उनका जीवन-दर्शन मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति का अभिवाहक है। उनका वस्तुवादी जीवनावलोकन अद्भुत है।

ख. शुक्ल जी का साहित्य-आलोचक-रूप

आलोचक-प्रवर शुक्ल जी हिन्दी समीक्षा के जनक हैं। समीक्षा के सैद्धान्तिक और उससे भी बढ़कर व्यावहारिक पक्ष को उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। उनका काव्यदर्शन विस्तृत, संतुलित और सुलझा हुआ है। साहित्य-समालोचक रूप में उनका ऐतिहासिक महत्त्व सर्वोपरि है। शुक्ल जी से पूर्व हिन्दी-समालोचना की गति-विधि के संक्षिप्त अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार शुक्ल जी ने ही हिन्दी आलोचना का स्वतंत्र मार्ग निकाला। वैसे तो रीतिकाल में ही सैद्धान्तिक आलोचना के रूप में हिन्दी समीक्षा का बीजारोपण हो चुका था, और संस्कृत काव्य सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी में सैकड़ों लक्षण ग्रंथों की रचना हुई, पर रीतिकालीन, इस प्रयत्न में न तो मौलिकता थी और न प्रतिभा और स्वाधीन चिंतन। रस-अलंकार की बंधी हुई लकीर से बाहर किसी का पैर नहीं बढ़ा। साहित्य की अनेक समस्याओं तथा परम्परागत मतों सिद्धान्तों की वैज्ञानिक परख का कुछ भी कार्य न हुआ।

भारतेन्दुयुग में साहित्य और जीवन में नव-चेतना आई। अनेकानेक नवीन काव्य-शैलियों और पद्धतियों से, पाश्चात्य सम्पर्क के कारण, भारतीयों का परिचय हुआ। पत्र-पत्रिकाओं का चलन हुआ। खड़ी बोली गद्य का विकास हुआ और उसमें आलोचनात्मक लेख लिखे जाने लगे। नए ढंग की आलोचना की आशा बंधी। पं० बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन आदि लेखक-सम्पादकों द्वारा पत्र पत्रिकाओं में इस आलोचना का सूत्रपातहुआ। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा 'प्रेमघन आदि के कार्य को ही आगे बढ़ाया। 'पुस्तक परिचय' के रूप में संक्षिप्त आलोचनाओं की परिपाटी चली।

परन्तु अबतक की समस्त आलोचना प्राचीन पद्धति की रही। उसमें पूरी रचनाओं की सर्वांगीण आलोचना नहीं होती थी, केवल विशेष विशेष स्थलों तथा विशेष पहलुओं का गुण-दोष विवेचन होता था। यह भारतीय प्राचीन गुण दोष विवेचिनी आलोचना के ही निकट रही। 'प्रेमघन' ने लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की भाषा, प्रबंध तथा परम्परागत शास्त्रीय नियमों की अवहेलना आदि की कड़ी आलोचना की। द्विवेदी जी की आलोचना भी अधिकतर दोषान्वेषिणी ही रही। वे मूलतः सुधारक थे, अतः आलोचना में भी उनका सुधारक रूप प्रकट हुआ है। भाषा शुद्धि की दृष्टि से उन्होंने महत्त्व-पूर्ण आलोचनात्मक कार्य किया है। यद्यपि द्विवेदी जी से ही पुस्तकाकार रूप में

आलोचना की परिपाटी का चलन माना जाता है, पर उनकी 'हिन्दी कालिदास की निरकुशता' आदि आलोचनात्मक पुस्तकें सर्वांगीण पाश्चात्य व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप खडा न कर सकी। द्विवेदी जी की बहुत-सी आलोचनाएँ केवल परिचयात्मक ही रही। द्विवेदी युग मे मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नव-रत्न' की रचना द्वारा प्राचीन कवियो तथा काव्यो के ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा मननशील और विवेचनात्मक अध्ययन की ओर सकेत किया। परन्तु यह इंगित मात्र था—आलोचना के प्रशस्त पथ का इंगित मात्र, जिसे पाकर शुक्ल जी ने मिश्रबंधुओं के अधूरे कार्य की अद्भुत पूर्ति की। प० पद्मसिंह शर्मा ने अत्यन्त रोचक शैली मे तुलनात्मक समीक्षा द्वारा विहारी को श्रेष्ठ घोषित किया। 'हिन्दी नवरत्न' मे देव को विहारी से ऊचा दर्जा प्राप्त था। देव और विहारी को लेकर हिन्दी मे तुलनात्मक समोक्षा की धूम मच गई। ला० भगवानदीन, प० कृष्ण विहारी मिश्र आदि कई आलोचक मैदान मे आए। इन आलोचको का उद्देश्य भी परम्परागत गुण-दोष-निरूपण ही रहा। ये भी प्राचीन शास्त्रीय रूढि से बाहर न जा सके। अपनी रुचि के कवि को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए आलोचना की मर्यादा का भी कभी कभी इनमे उल्लघन हो जाता था। इनमें कुछ कटुता और पक्षपात की भावना भी थी। इनमे प० कृष्णविहारी मिश्र का दृष्टिकोण स्वस्थ था। देव की उत्कृष्टता दिखाने मे उन्होने विहारी की मिट्टी नही कूटी। उनकी शैली सहृदयतापूर्ण, सयत और सुष्ठु रही पर पद्धति उनकी भी प्राचीन रस-अलंकार आदि परम्परागत शास्त्रीय ही थी। इस प्रकार हिन्दी मे समालोचना की धूम तो खूब मची, पर निष्पक्ष वैज्ञानिक सर्वांगीण, स्वाधीन आलोचना की सर्वथा कमी रही। कुछ आलोचको ने अग्रेजी के प्रभाव से अग्रेजी कवियों पर की गई आलोचनाओ की उक्तियो का अनुवाद करके उन्हें हिन्दी के कवियो के लिए प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था।

इस प्रकार हिन्दी समीक्षा की इस अनिश्चित अवस्था मे समीक्षक-प्रवर शुक्ल जी का शुभागमन हुआ। उन्होने अपनी सूक्ष्म-चिन्तनशील शक्ति और समर्थ लेखनी से हिन्दी-समीक्षा की काया-पलट कर दी। व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं का उन्होंने नव-निर्माण किया। सैद्धान्तिक आलोचना के निर्माण मे तो चाहे अन्य आलोचक भी शुक्लजी की बराबरी मे खडे हों, क्योंकि 'नागरीप्रचारिणी सभा की पत्रिका' (जन्म-सन् 1897) ने भी गभीर गवेषणात्मक तथा समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी लेख निकालकर इस ओर कुछ कार्य आरभ कर दिया था, तथा बाबू श्याम सुन्दरदास ने पश्चिमी आलोचना के प्रभाव से 'साहित्यालोचन' की रचना की थी, पर व्यावहारिक समीक्षा के निर्माण मे तो शुक्लजी अद्वितीय हैं। उनकी समीक्षा की सबसे बडी विशेषता है उनकी

सर्वांगीणता। उन्होंने कवि की अन्त: प्रवृत्तियों में प्रवेश करके, उसकी ऐतिहासिक (देश-काल की परिस्थितियों) पृष्ठभूमि में विचरण करके कवि-कार्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूपों का निष्पक्ष, सहृदयतापूर्ण गहन-गंभीर विवेचनात्मक तथा विश्लेषात्मक अध्ययन सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। उनकी सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं अत्यन्त मार्मिक और उपर्युक्त सभी विशेषताओं से पूर्ण हैं। उन्होंने पाश्चात्य व्याख्यात्मक पद्धति और भारतीय निर्णयात्मक प्रणाली का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया। उन्होंने सर्वांगीण साहित्यिक समीक्षा-प्रणाली का एक स्तर कायम किया जिसका अनुकरण आज तक होता आ रहा है। अपनी सर्वांगीण व्यावहारिक व्याख्यात्मक-निर्णयात्मक आलोचना में उन्होंने ऐतिहासिक, तुलनात्मक, सैद्धान्तिक आदि प्रायः सभी समीक्षा-प्रणालियों को सम्मिलित करके उसे व्यापक विस्तृत रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। हां, मनोवैज्ञानिक समीक्षा के रूप में कवियों की मनोवैज्ञानिक मनोभूमि और पृष्ठभूमि को वे अच्छी तरह नहीं दिखा सके।

शुक्ल जी का आलोचना-कार्य न केवल हिन्दी साहित्य में अपितु समग्र भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय समीक्षा-प्रणाली अपने सैद्धान्तिक रूप में तो बहुत सूक्ष्म, वैज्ञानिक तथा निष्पक्ष तथ्य-निरूपिणी रही है, पर व्यावहारिक समीक्षा की वह सर्वांगीण व्यापक प्रणाली हमारे यहां नहीं मिलती, जो पश्चिम में प्रचलित रही है। केवल किसी विशेषता या प्रभाव को जताने वाली प्राचीन सूक्ति-शैली में आगे हमारी व्यावहारिक आलोचना का कुछ व्यापक रूप गुण दोष-विवेचन तथा टीकाओं की व्याख्यात्मक शैली के रूप में ही मिलता है। पर यह समीक्षा पश्चिम की तरह ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आधारों को अपना कर व्यापक रूप में कभी सामने नहीं आई। हमारी आलोचना सदैव सामाजिक अर्थात पाठक या रस-भोक्ता की दृष्टि से ही एक बंधे हुए ढंग पर होती थी। शुक्ल जी वर्तमान युग के उन भारतीय समीक्षकों में प्रथम श्रेणी के अधिकारी हैं जिन्होंने व्यावहारिक समीक्षा को व्यापक एवं सर्वांगीण वैज्ञानिक रूप प्रदान किया।

शुक्ल जी की सूर, तुलसी, जायसी की विस्तृत समीक्षाओं के अतिरिक्त उनकी एक और बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य का यह पहला वास्तविक इतिहास है, जिसमें वैज्ञानिक ढंग पर ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य का व्यवस्थित ढांचा खड़ा किया गया है। साहित्य के विभिन्नकालों का निरूपण, उनकी ऐतिहासिक समीक्षाएँ, प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन, कवियों के संक्षिप्त परिचय, उनकी रचनाओं की संक्षिप्त सारपूर्ण आलोचनाएँ, तुलनात्मक विवेचन और निर्णय—सब मिलाकर

एक पूर्णता का निर्माण किया। तुलसी और जायसी की विस्तृत समीक्षा में उन्होने विस्तृत और पूर्ण विवेचन का प्रयास किया है। सामान्य रूप से उन्होने कवियों के युग एवं परिस्थिति, जीवन-परिचय, परम्परा और सम्प्रदाय, मत और सिद्धान्त, काव्य पद्धति, भाव-जगत, भावुकता, भाषा और शैली, कवि-प्रतिभा, आदर्श और जीवनानुभूतियाँ, काव्य के अन्य गुण-दोष तथा साहित्य मे काव्य तथा कवि का स्थान—इतनी बातो पर प्रकाश डाला है, जो उनकी समीक्षा की व्यापकता का द्योतक है। युग एव परिस्थितियो तथा परम्परा और सम्प्रदाय का अध्ययन ऐतिहासिक समीक्षा है, कवि-परिचय के द्वारा कवि के जीवन और स्वभाव को समझने का प्रयास किया गया है। हाँ, यह अध्ययन विशेष मनोवैज्ञानिक नही हो सका। प्रामाणिक सामग्री के अभाव में प्राचीन कवियो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन था भी कठिन, पर शुक्ल जी ने तो मनोवैज्ञानिक समीक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया ही नही। कवि की विचारधारा, मत और सिद्धान्त, भाव जगत, भावुकता तथा आदर्श और जीवन-दृष्टि आदि विषयो द्वारा उन्होने 'कवि की अन्त प्रकृति की छानबीन' और उसकी 'विशेषताओ का अन्वेषण' किया है। काव्य-पद्धति, भाषा-शैली आदि द्वारा काव्य के बाह्य-पक्ष (form) का अध्ययन किया गया है। अन्तर-बाह्य का यह अध्ययन व्याख्यात्मक आलोचना को प्रकट करता है। काव्य के गुण-दोष का विचार तथा साहित्य मे स्थान निर्णयात्मक आलोचना के परिचायक हैं। बीच-बीच मे कवि-कर्म के अध्ययन मे शुक्ल जी ने काव्य-सिद्धान्तों पर भी विचार किया है, जो शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत समझना चाहिए। प्रसगवश अन्य कवियों और रचनाओं से तुलना मे तुलनात्मक समीक्षा का पुट भी पाया जाता है। इसप्रकार शुक्ल जी ने ही सर्वप्रथम सर्वांगीण समीक्षा का सूत्रपात किया। विश्लेषण-संश्लेषण, व्याख्या, तुलना और निर्णय की उनमें अद्भुत शक्ति थी।

कुछ विद्वान शुक्ल जी को निर्धारित रुचि का आलोचक बताते हैं। इस सम्बन्ध मे श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि "एक विशिष्ट काव्य-ग्रथ (रामचरितमानस) को तथा उसमे निहित जीवन-दर्शन को (चाहे वे कितने ही महान हो) काव्य-समीक्षा का आधार बना लेने पर जातीय साहित्य की गतिमान धारा का और उसे परिवर्तित करने वाली अनेक-विध परिस्थितियों का बहुमुखी अध्ययन और आकलन कठिन हो जाता है।.........उनकी एक ही विचार-भूमि है, एक ही जीवन दर्शन है और एक ही काव्यादर्श है।......... जहाँ-जहा और जब-जब शुक्लजी ने अपने काव्य-माप मे कुछ व्यक्तिगत रुचियो के प्रवेश करने का प्रयत्न किया है—उदाहरण के लिए उन्होने कथात्मक साहित्य या प्रबध रचना को मुक्तक की अपेक्षा उत्तम ठहराया और निर्गुण-सगुण की

दार्शनिक धाराओं मे सगुण-पक्ष की वकालत की—वहा-वहां उन्हें अवसर काव्य की परख करने मे कठिनाई हुई है। डॉ० एल० राय मे रविबाबू की अपेक्षा उच्चतर भाव-सवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात तो नही, विशिष्ट व्यक्तिगत रुचि और मान्यता का परिणाम है। इसी कारण हिन्दी के आधुनिक कवियो के प्रति वे न्याय नही कर सके।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी उनके सगुणवाद के पक्ष तथा कबीर आदि की उपेक्षा के कारण उनके साहित्य-मन पर सकीर्णता का आरोप लगाते हैं—"वे काव्य के क्षेत्र मे अव्यक्त और अज्ञात की अनुभूति से सदा व्याकुल रहने वाले कवियो को काव्य-क्षेत्र से हटकर किसी धर्म-साधना या दर्शन के क्षेत्र मे जाने की सलाह देते थे, क्योकि उनके मत से काव्य का क्षेत्र मनुष्य या मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धो का क्षेत्र है, अज्ञात और अव्यक्त रहस्यो का लोक नही। शुक्लजी का यह मत उनकी व्यापक दृष्टि के अनुकूल नही था।"

शुक्ल जी पर व्यक्तिगत रुचि का आरोप व्यर्थ ही है। वास्तव मे वे एक बहुत बडे रस-ग्राही आलोचक थे। जहा-जहा जिस-जिस काव्य मे उन्हे रस-ग्रहण कराने की क्षमता कम दिखाई दी, वही उन्होने उसका विरोध किया। वे *अव्यक्त* के विरुद्ध थे तो इसीलिए कि अव्यक्त रहस्यमय के प्रति प्रणयानुभूति, लौकिक आधार के बिना उन्हे रस-सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत हुई। उनकी रस-दृष्टि इतनी सुलझी हुई है कि उसके आधार पर वे काव्य-कृतियो के सुन्दर-असुन्दर पक्ष का पूर्णता के साथ उद्घाटन कर सके। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने उन पर नैतिकता का आरोप लगाया है, पर हम समझते हैं कि काव्य के सुन्दर पक्ष की अवहेलना करके वे नैतिक मूल्यो को नही आकते। उन्होने तुलसीदास को श्रेष्ठ माना तो इसमे आपत्ति की बात क्या है ? *क्या तुलसी का भाव-विस्तार सूर से अधिक नही है ?* क्या सूर के वात्सल्य और शृगार की गहराई को भी उन्होने स्वीकार नही किया ? शुक्ल जी की रस-ग्राह्यता मे सदेह नही हो सकता। आज की काव्य-दृष्टि और आलोचना को उनकी रस-दृष्टि की आवश्यकता है। वैसे आलोचक की आलोचना मे उसकी रुचि रहती ही है, आग की भी नही जा सकती। पर वह रहनी चाहिए निष्पक्ष, जैसी शुक्लजी की है। 'कविता क्या है' नामक निबध मे वे काव्य मे नीति-उपदेश, दर्शन की गौणता को स्वय स्वीकार करते हैं—"सुन्दर और कुरूप—काव्य मे बस ये ही दो पक्ष हैं। भला, बुरा, शुभ, अशुभ, पाप-पुण्य, मगल-अमगल, उपयोगी-अनुपयोगी ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थ-शास्त्र आदि के शब्द है।"

जैसाकि कहा जा चुका है, शुक्लजी की आलोचना की सबसे बडी शक्ति है उनकी भावकता। उनकी उच्च कोटि की रसानुभूति और विश्लेषण-शक्ति का

परिचय हमे कवियो के भाव पक्ष के विश्लेषण मे मिलता है। सूर के शृंगार और वात्सल्य, जायसी के नागमती विरह वर्णन और तुलसी के भाव जगत की व्याख्या मे उनका भावक रूप पूर्णतया देखा जा सकता है। यहा एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगे। सूर के वात्सल्य-वर्णन मे जब नन्द मथुरा से कृष्ण के बिना लौटते हैं और गोकुल मे माता यशोदा की आशा पर पानी फेरते हैं, उस समय के नन्द और यशोदा के वियोग-दुख का विश्लेषण शुक्लजी इस प्रकार करते है—"अनेक दु खात्मक भावतरगें उनके (नन्द-यशोदा के) हृदय मे उठती है। कभी यशोदा नन्द से खीझकर कहती है—

> छाँडि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो ।
> फाटि न गई व्रज की छाति कत यह सूल सह्यो ॥

इसपर नन्द यशोदा पर उलट पडते हैं—

> तब तू मारिवोई करति ।
> रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाडे भरति ॥
> रोस कै कर दावरी लै फिरनि घर घर धरति ।
> कठिन हिय करि तब जो बाध्यो, अब वृथा करि मरति ॥

'यह 'झुझलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेम भाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है! सुख शाति के भग का कैसा यथातथ्य चित्र है! आगे देखिए, गहरी 'उत्सुकता' और अधीरता के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'खिझलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है! यशोदा नन्द से कहती है—

> नन्द! व्रज लीजै ठोकि बजाय।
> देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥

"'ठोकि बजाय' मे कितनी व्यजना है! 'तुम अपना व्रज अच्छी तरह सभालो, तुम्हे इसका गहरा लोभ है, मैं तो जाती हू' एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावो से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानो से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भावपचामृत, क्योकि एक ही वाक्य "नद! व्रज लीजै ठोकि बजाय" मे कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनो की मिश्र व्यजना—जिसे शबलता ही कहने से सतोष नही होता—पाई जाती है।" (भ्रमरगीतसार की भूमिका-पृ० 22-23)

उपर्युक्त उद्धरण से शुक्लजी की भावकता—उनकी रस-ग्राहिणी शक्ति और विश्लेषण शक्ति का अपूर्व परिचय मिलता है। मोटे टाइप के वाक्यो मे

उनकी अनुरूप सशक्त मार्मिक शैली भी देखिए। प्राचीन आचार्यों की भाव-शबलता से संतुष्ट न होना उनकी अपूर्व रसज्ञता और स्वाधीन तथ्य-निरूपण का परिचायक है।

एक उद्धरण 'तुलसी की भावुकता' से देखिए। "सीता जी द्वारा शृंगार के संचारी भाव 'व्रीडा' की व्यंजना के लिए कैसा उपयुक्त अवसर चुना गया है। वन के मार्ग मे ग्रामीण स्त्रिया राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती है कि ये तुम्हारे कौन हैं। इस पर सीता—

निरहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति वर-बरनी॥

"बिलोकति धरनी" कितनी स्वाभाविक मुद्रा है! 'दुहु सकोच' द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमान शून्यता भी कैसे ढग म व्यजित कर दी है। एक तो राम को खुले शब्दो म अपना पति कहने मे सकोच; दूसरा सकोच यह समझकर कि यदि इन भोली-भाली स्त्रियो को कोई उत्तर न दिया जाएगा तो ये मन मे दुखी होगी और मुझे अभिमानिनी समझेंगी।

"इसके आगे सीताजी मे शृंगारी चेष्टाओ का विधान भी अत्यन्त निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामी जी ने किया है—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितै भौह करि बाँकी॥
खजन मजु तिरछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥

इस प्रकार 'रसानुभूति का बौद्धिक विश्लेषण करने की शक्ति' शुक्ल जी मे अपूर्व थी। इसी के आधार पर उन्होने कवियो तथा उनके काव्य के सम्बन्ध मे अनेक यथार्थ निर्णय दिए हैं। *सारगर्भित वाक्यो के रूप म उनक निर्णय बहुत* ही मार्मिक, यथार्थ और माननीय हैं। "सूर वात्सल्य का कोना-कोना झांक आए हैं," "कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी, वह जायसी द्वारा पूरी हुई," (इस स्थापना के सम्बन्ध मे मत-भेद हो सकता है) "प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है," "चरम महत्व के इस भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव-विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव-तरगें उठती हैं, उन्ही की माला विनयपत्रिका है," "एक प्रबंध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबंधो से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे जाता दिखाई पडे, जायसी का मुख्य लक्ष्य है," 'तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौन्दर्यमयी स्वच्छधारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया" इत्यादि अनेक उक्तियाँ ऐसी ही हैं।

तुलसीदास उनके आदर्श कवि हैं। उनकी प्रवृत्ति या रुचि तुलसीदास के साथ बंध जाने के कारण वे तुलसी की न्यूनताओ का अवलोकन नहीं कर सके। अपनी प्रकृतवादी, व्यक्तिवादी, बौद्धिक चिन्ताधारा के अनुसार ही उन्होंने 'मानस' के धार्मिक पक्ष की व्याख्या की जा तुलसी के दृष्टिकोण से कुछ दूर जा पडती है। फिर भी तुलसी की श्रेष्ठता प्रमाणित करने म उनकी स्थापनाएँ ग्राह्य ही हैं—"भाव और भाषा दोनो के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला कि 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास'। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सब स अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबम बडा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक होगा कि भारत हृदय, भारती-कठ, भक्त, चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास"। (तुलसीदास—पृ० 175)। सूर की समीक्षा म भी उन्होने तुलसी की श्रेष्ठता को घोषित किया है, पर सूर की महत्ता भी तुलसी के बाद उन्होंने स्वीकार की है—"केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी जी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाना है। वे हैं प्रेमस्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदास जी।"

शुक्ल जी ने अव्यक्त और अज्ञात के प्रति स्वाभाविक रहस्य भावना को ही मार्मिक और काव्योपयोगी स्वीकार किया है। उन्होने रहस्यवाद को, जिसमे अव्यक्त के प्रति विरह और मिलन की ऊहात्मक अनुभूतियो का प्रकाशन होता है, स्वीकार नहीं किया। शुक्ल जी की इस स्थापना का प्राय सभी वर्तमान समीक्षक विरोध करते हैं। हम भी इसमे पूर्ण सत्य नही मानते। पर शुक्ल जी के इस निर्णय मे उनकी रसज्ञता का अद्भुत रहस्य छिपा हुआ है। काव्यगत अनुभूति की सच्चाई को पकडने की उनकी शक्ति का इसमे पूर्ण परिचय मिलता है। हमने इस सम्बन्ध मे कई बार विचार किया है, और ईमानदारी की बात है कि आत्मा-परमात्मा के ऊहात्मक प्रणय-व्यापारों मे हमारा हृदय उतना नही रमता, जितना परमात्मा के प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा या प्रणय-वेदना की भावानुभूति मे रमता है। यह बात कबीर के निम्न दो प्रसिद्ध पदो के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

(क) दुलहिन गावहु मगलाचार। हमारे घर आये राजा राम भरतार।।
तन रति करि हूँ मैं मन रति करि हू, पच तत्त बराती।
रामदेव मेरे पाहुन आए, हौं जोवन मदमाती।।
शरीर सरोवर वेदी करि हौं, ब्रह्म वेद उचार।
रामदेव संग भाँवर लै हौं, धनि-धनि भाग हमार।।

सुर तैंतीसो कौतुक आए, मुनिवर सहस अठासी।
यह कबीर हम ब्याहि चलि हैं, पुरुष एक अविनासी ॥

(ख) हो बलिया कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि।
सुनहु हमारी दादि गोसाईं अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी कांचे भांडे नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

उपर्युक्त पहले पद में रहस्यात्मक ऊहापोह है, दूसरे में स्वाभाविक आकांक्षा और प्रेम की मर्मस्पर्शी अनुभूति। पहले पद में कबीर की आत्मा का चाहे जितना मिलनोल्लास व्यंजित हुआ हो, पर ईमानदारी की बात है, कि हमें इस रहस्य-वादी पद्य में उतनी रसानुभूति नहीं होती, जितनी दूसरे पद में। यही बात महादेवी जी के प्राय समस्त रहस्यवादी गीतों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनमें रसानुभूति की वैसी क्षमता नहीं, जो हृदय को पकड़ ले। इस दृष्टि से शुक्लजी की रसज्ञता और काव्यगत यथार्थ दृष्टि का लोहा मानते ही बनता है।

वे 'लोक धर्म' और 'लोकादर्शवाद' के हामी थे अवश्य, पर इनकी आकांक्षा उन्होंने अपनी रसज्ञता को खोकर कहीं नहीं की। वे इसलोक में ही सौन्दर्य, शक्ति और शील की भावना के भावक रहे हैं। वे बहुत बड़े प्रकृति-प्रेमी और प्रकृतिवादी थे। प्रकृति के नाना रूप-रंगों, दृश्यों तथा मानव के स्वाभाविक शुद्ध भावों, प्रकृत व्यवहारों और सम्बन्धों तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियों में वे बहुत रस पाते थे। उनका व्यापक लोकवाद काव्यानन्द को छोड़कर नहीं चलता। न हीं वे केवल मनोरंजन या आनन्द को काव्य में सबकुछ मानते हैं। कविता का उद्देश्य उन्होंने मानव के रागों का परिष्कार माना है। यह रागों का परिष्कार उनके लोकवाद की धुरि है। वे जिस कवि में लोक की भावना या रागों के परि-ष्कार की भावना जितनी अधिक पाते हैं, उसे उतनी ही उच्च श्रेणी का बताते हैं। लोक पर या रागों के परिष्कार पर सीमित दृष्टि रखने वाले सन्त कवि, कृष्ण भक्त कवि, रीति कवि और आधुनिक रहस्यवादी कवियों से तुलसी उन्हें इसी लिए प्रिय लगे कि उनके काव्य से मानव के सम्पूर्ण रागों का परिष्कार होता है।

काव्य में चमत्कारवाद, कलावाद, कल्पनावाद, अभिव्यंजनावाद आदि के भी वे इसी लिए विरुद्ध थे, क्योंकि वे समझते थे कि ये 'वाद' भावनिरपेक्ष हैं। वे प्रबन्ध काव्य को भी इसी लिए श्रेष्ठ मानते थे, क्योंकि प्रबंध काव्य में मुक्तक

की अपेक्षा जीवन की नाना रूप-छवियो का चित्रण और व्यापक रागात्मक प्रसार सभव है। वे कवि मे अनुभूति की तीव्रता और व्यापकता आवश्यक मानते हैं। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमे है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति मे अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का राम-चरित स बढकर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पडते हैं। · जो केवल दापत्य रति ही मे अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नही कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के समुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।" (तुलसी की भावुकता)। इस उदाहरण से स्पष्ट हो गया होगा कि शुक्लजी व्यापक भावप्रसार को अधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या वे भाव-विस्तार को ही सबकुछ समझते थे या भाव-तीव्रता और भाव-गाभीर्य का भी विचार रखते थे ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वे भाव विस्तार के साथ भाव-तीव्रता और भाव-गाभीर्य को भी महत्त्व देते थे। यदि तुलसी म भावो की गहराई न होती, तो शायद वे उसे अपनाते ही न। भाव-गाभीर्य के कारण ही वे सूरदास को जायसी स श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं और तुलसी के बाद दूसरा दर्जा देते हैं।

इस प्रकार शुक्लजी एक बहुत बडे रसज्ञ आलोचक थे। कुछ विद्वान शुक्लजी मे सिद्धान्त-निर्माण की क्षमता नही पाते। डा० नगेन्द्र उन्हे 'आऊट-आव डेट' हो गए ही बताते हैं। डा० आई० ए० रिचर्ड्स के साथ शुक्लजी की तुलना करते हुए वे कहते हैं—रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कही अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्लजी का स्थिर। इसलिए विषमताओ का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं, उस सरलता से शुक्लजी नही। इसी कारण शुक्लजी बहुत शीघ्र ही आउट ऑव डेट हो गए—रिचर्ड्स कभी नही हो सकते, वे टी० एस० इलियट की कविताओ का भी आदर हृदय खोलकर करते हैं, शुक्लजी को प्रसाद के साथ समझौता करने मे भी कठिनाई पडी। कविता के लोकपक्ष ने उन्हें इतना पकड रखा था कि रस की एकांत साधना उन्हें मुश्किल से ही रसग्राह्य हो सकती थी। इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्लजी का भाव कुछ कठोर ही रहा।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सपादक, बाबू गुलाबराय पृ० 138)। इस सम्बन्ध मे हमारा नम्र निवेदन है कि शुक्लजी की कठोरता 'रस की एकान्त साधना' के प्रति नहीं थी, और 'रस की एकात साधना' उन्ह रस-ग्राह्य न हो, ऐसी बात भी नही है, हा, वे साहित्य मे 'केवल रस की एकात साधना' के पक्षपाती नही थे, इसीलिए उन्होने रीतिकालीन काव्य, फारसी-काव्य, कृष्ण-

काव्य आदि की एकागिता का विरोध किया। रहस्यवाद पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आसुओं की आकाश-गगा मे तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के सग नग्न प्रणय का ताडव करने या मुँदे नयनपलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना कहा तक ठीक है ? चारो ओर से बेदखल हो कर छोटे-छोटे कन-कौवो पर भला कविता कब तक टिक सकती है ?" 'रस की एकात साधना' उनके भावुक हृदय मे न उतरती हो, ऐसा नही माना जा सकता। वे अपने साहित्य को एक व्यापक भाव-भूमि पर ला खडा करना चाहते थे, इसी लिए उसे एकागिता से बचाने के लिए उन्हें कठोर भी बनना पडा है। उनकी रस-ग्राहिता मे सदेह नही होना चाहिए। डा० देवराज नगेन्द्र जी की उपर्युक्त 'आउट ऑव डेट' वाली स्थापना पर विचार करते हुए एक और बात कहते हैं—"शुक्लजी आउट-ऑव-डेट नही होगे क्योकि उनमें सिद्धातो के निर्माण की नही, तथ्यों (Facts) को पकडने की क्षमता है।'''जहां यह ठीक है कि वे एकागी वादो के विरोध मे एक सुचिन्तित साहित्यिक सिद्धात का निर्माण नही कर सके, वहा यह भी ठीक है कि प्राय: वे एकागी वादो की कमिया को भाषा द्वारा पकडने और प्रकट करने मे समर्थ हुए हैं। और यहा हम शुक्लजी की विश्लेषण-शक्ति का लोहा मानना पडता है।" इसमे सदेह नही कि शुक्लजी के सिद्धात-निर्माण, तथा 'तथ्यों को पकडने' मे कुछ त्रुटिया और न्यूनताएँ पाई जाती हैं, जैसे अभिव्यजनावाद को उन्होने व्यापक दृष्टि से नही परखा, रहस्यवाद के सम्बन्ध मे भी उनका तथ्य-निरूपण सदोष है, डटन के व्यक्तिवैचित्र्य को भी वे व्यर्थ खीच गए, साधारणीकरण मे रस की ऊँची-नीची कोटियाँ बताना भी उन्ही की रस दृष्टि के विरुद्ध पडता है, किन्तु तो भी शुक्लजी 'मूल्याकन के सफल मानो का आविष्कार नही कर सके' हो, ऐसी बात नहीं। काव्य के अन्त पक्ष की प्रतिष्ठा, प्रकृति-प्रयोग की व्यापक रागात्मक दृष्टि, अलकार, कल्पना और चमत्कार की मर्यादास्थापना, काव्य को वाद से दूर रखने का सदेश, काव्य को जीवन की ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित करना और उस के ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की अलौकिकता के भ्रम का निवारण, आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की स्थापना, काव्य-भाषा म अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण का महत्त्व तथा उसकी लाक्षणिक शक्ति आदि को स्वीकार करना, काव्य का लक्ष्य राग-परिष्कार मानना आदि ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं, जो निश्चय ही काव्य के स्थायी मूल्याकन म सम्बन्धित हैं। माना कि उन्होंने मुख्य रूप से काव्य (कविता) पर ही विचार किया है और साहित्य के सभी अगो की पूर्ण शास्त्रीय मीमासा उन्होने नही की, पर साहित्य के मूल तत्त्वों और उपकरणो के निर्माण म उनकी सूक्ष्म पैठ पर सदेह नही हो

सकता। डा० नगेन्द्र ने उनके एक अभिमत की विस्तृत आलोचना की है, और यह कहा है कि शुक्लजी का काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ मे मानना उनका 'एक हल्का-सा दिसातर भ्रमण' और 'उनके अपने काव्य सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।' 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' निबध मे शुक्लजी भाषा की शक्तियो पर विचार करते हुए कहते हैं—'अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किस मे रहती है ? वाच्यार्थ म अथवा लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ मे ? इसका बेधडक उत्तर यही है कि वाच्यार्थ मे, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो, अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।" इस सम्बन्ध मे हमारा नम्र निवेदन यह है कि नगेन्द्र जी ने विवेचना के प्रसग तथा शुक्लजी की उक्ति मे 'रमणीयता' पर ठीक ध्यान न देकर काव्य की रमणीयता' से अभिप्राय काव्य की आत्मा समझ लिया है। हमारा निश्चित मत है कि शुक्लजी अपने मूल सिद्धांत से बिल्कुल भी विचलित नही हुए हैं। उनका 'रमणीयता' स अभिप्राय मनोरजन या चमत्कार से ही रहा है। यह बात 'चिन्तामणि' I मे पडितराज जगन्नाथ की काव्य परिभाषा की आलोचना से भी प्रकट होती है और इस उक्ति के प्रसग से भी। 'कविता क्या है' मे वे कहते हैं— ' कविता की इसी रमानेवाली शक्ति ('मनोरजन शक्ति द्वारा पढने या सुनने वाले का चित्त रमाने' वाली) को देखकर पडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता का पल्ला पकडा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरपीय समीक्षको ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गतव्य स्थल मान लेने के कारण बडा गडबडझाला हुआ।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी रमणीयता का अर्थ चमत्कार या मनोरजन ही लेते हैं, भावमग्न करना नही। वे इसे मार्ग या साधन ही समझते हैं, गतव्य या साध्य नही। शुक्लजी ने 'काव्य म अभिव्यजनावाद' के उक्त प्रकरण मे काव्य की भाषा की मीमासा की है। वे शब्दशक्तियों पर विचार करते हुए लक्षणाव्यजना की महत्ता बताते हैं। वही वे आगे कहते हैं—' मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने क लिए नही है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार-विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति ही मे, अर्थात उसके वाच्यार्थ ही मे काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ मे नहीं। जैसे यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजए—

जीकर हाय ! पतग मरे क्या ?

इसम भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य है या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ मे ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतग क्यो कष्ट भोगे ?" तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा।" शुक्लजी यहा भाषा की रमणीय शक्ति या चमत्कार-शक्ति पर विचार कर रहे हैं। वे जिस प्रकार काव्य मे अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा

बिम्बग्रहण को ही काव्यत्व मानते रहे हैं, उसी प्रकार यहा भी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यजना मे ही काव्यत्व अधिक बताते हैं। लक्ष्य-व्यग्यार्थ के योग्य या उपपन्न अर्थ से उनका अभिप्राय बुद्धिग्राह्य या बौद्धिक अर्थ से है। 'काव्यत्व' से उनका तात्पर्य काव्योपयोगिता से है—अर्थात जिस प्रकार वे 'देश का धन विदेश जा रहा है', इस उक्ति मे काव्यत्व नहीं मानते, इसके स्थान पर देश की भूखी-नगी जनता के चित्र को प्रस्तुत करने मे काव्यत्व स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार उक्ति के बौद्धिक प्रकृत लक्ष्य या व्यग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ मे काव्य मानते हैं। वे अर्थग्रहण कराना काव्य का उद्देश्य नही मानते, अर्थ ग्रहण कराता है शास्त्र या विज्ञान। अतः उर्मिला की उक्ति "आप अवधि बन सकू···" मे व्यग्यार्थ—"उर्मिला को प्रियमिलन का अत्यन्त औत्सुक्य है"—अर्थ मात्र ग्रहण कराता है। अतः इसमे मार्मिकता नही। मार्मिकता है उर्मिला की प्रिय-मिलन की उत्सुकता की व्यंजना मे। अतः व्यजना मे ही रमणीयता हुई, व्यग्यार्थ मे नहीं। वास्तव मे क्रोचे का विरोध करने वाले शुक्ल जी यहां उसी व सिद्धात 'उक्ति ही काव्य है' को मानते दिखाई दें, यदि उनके इस कथन—"उस उक्ति ही मे, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही मे, काव्य या रमणीयता होगी"—मे यह अर्थ लिया जाय कि वह उक्ति या वाच्यार्थ ही काव्य की आत्मा या काव्य है। अत स्पष्ट है कि शुक्लजी लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ को बौद्धिक अर्थ मानकर उसमे काव्यत्व की शक्ति को अस्वीकार करते हैं। इसलिए अर्थ ग्रहण मात्र कराने वाली इस उक्ति मे कि 'उर्मिला को औत्सुक्य है'—काव्यत्व का अभाव ठीक ही प्रतीत होता है। भाषा की लक्षणा व्यजना शक्ति के कारण उसमे मार्मिकता आ गई है। अतः शुक्ल जी का यह कहना कि 'वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यग्यार्थ नहीं' यही प्रकट करता है कि काव्यत्व वाच्यार्थ मे ही है। निश्चय ही वे यह नही कहते कि वाच्यार्थ काव्य की आत्मा है। इससे यह तात्पर्य लेकर ही भ्राति उत्पन्न हो सकती है। शुक्ल जी की यह विवेचना केवल काव्य की भाषागत रमणीय शक्ति या चमत्कार से ही सम्बन्धित समझनी चाहिए। 'जीवन भर विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू' नही चला है, जैसा कि नगेन्द्र जी समझते हैं। वास्तव मे शुक्ल जी की वस्तुवादी दृष्टि यहा केवल भाषा या अभिव्यक्ति पक्ष पर ही विचार कर रही है, अन्त पक्ष या आत्मा-पक्ष पर नही। क्रोचे का मत 'उक्ति ही काव्य है,' काव्य की आत्मिक प्रक्रिया से सम्बन्धित है। 'कविता क्या है' की इन पक्तियो से हमारे कथन की ओर भी पुष्टि होती है—"उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहा भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी *उक्ति किस प्रकार की व्यजना करने वाला वाक्य।*"

इस प्रकार शुक्ल जी एक बहुत बड़े साहित्य-विचारक, सहृदय और रसज्ञ आलोचक थे। उन्होंने हिन्दी समालोचना के स्वतन्त्र पथ का निर्माण करके साहित्यिक समीक्षा के सच्चे स्वरूप की परम्परा चलाई। वे एक सफल सशक्त समीक्षक थे, सदेह नही।

००

10

शुक्ल जी के निबन्धों का भाव-पक्ष

शुक्ल जी के निबन्धो की विचार-भूमि के साथ उनकी भाव-भूमि भी अत्यन्त पुष्ट है। उनका मस्तिष्क एक आलोचक का था, हृदय कवि का और जीवन एक अध्यापक का था। इसीलिए चिंतन की गुरुगंभीरता के साथ-साथ उनकी रचनाओ मे सरसता और भावुकता तथा स्पष्टता और विशदता भी विद्यमान रहती है। बुद्धि-तत्त्व, भाव-तत्त्व और शैली तत्त्व तीनो का जैसा सुन्दर समन्वित रूप हमे उनके निबन्धो मे मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'चितामणि'-1 के निवेदन मे उन्होने स्वयं कहा है—"इस पुस्तक मे मेरी अन्तर्यात्रा मे पडने वाले कुछ प्रदेश है। **यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुचती है वहा हृदय भी थोडा-बहुत रमता और प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।**" शुक्ल जी का यह कथन सर्वांशतः सत्य है। बुद्धि और हृदय का जैसा सुन्दर सामजस्य शुक्ल जी के निबन्धो मे दिखाई देता है, वैसा विषयप्रधान विचारात्मक निबन्धो मे अन्यत्र बहुत ही कम मिलता है। उनके निबन्धो में, जैसाकि हमने पिछले प्रकरण मे देखा, उनकी-चिंतन शक्ति, गूढ-गभीर सिद्धात-निरूपण और प्रौढ विचारधारा पाई जाती है। किन्तु गूढ विषयो का यह सुन्दर एव सूक्ष्म विवेचन एक नीरस वैज्ञानिक या तर्क-शास्त्री का विवेचन नही है, सहृदय साहित्यकार का विवेचन है। उनके निबन्ध उनके बौद्धिक विकास के द्योतक हैं। उनमें बुद्धि तत्त्व अपार है, यह हम पीछे दिखा आए हैं। यहा केवल उनके निबन्धो के भाव-तत्त्व पर प्रकाश डालेंगे।

शुक्ल जी की भावानुभूति, भावात्मक हृदय की प्रतिक्रिया स्थान-स्थान पर निबन्धो मे परिलक्षित होती है। बीच बीच म फूटे हुए ये भाव-स्रोत निश्चय ही बौद्धिक यात्रा के श्रम का परिहार करते है। समाज की विषमता के प्रति उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाओ मे, राम के कर्म-सौन्दर्य की अनुभूति में, प्रकृति के प्रसग मे, अतीत भावनाओं के स्मरण मे, समाज के ढोग, नक्ली और कृत्रिम सभ्यता पर व्यग्य-बौछार करने मे तथा अन्य साहित्यिक, पौराणिक भावात्मक प्रसगो मे उनका भावुक हृदय, स्थान-स्थान पर क्षुब्ध, लुब्ध, मुग्ध, उत्साहित, उल्लसित—

भावमग्न और रसलीन होता रहा है। शुक्ल जी के निबन्धो के भाव-पक्ष को हम आगे, जिन-जिन रूपो मे वह व्यक्त हुआ है, विस्तार के साथ दिखायेंगे।

क सामाजिक जीवन की विषमताओं के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया—शुक्ल जी के निबन्धो मे उनका जीवन और समाज-दर्शन व्यापक रूप मे पाया जाता है, यह हम पीछे दिखा आए हैं। इस जीवन-मीमासा में शुक्ल जी ने अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया को खूब व्यजित किया है। यह प्रतिक्रिया भी मुख्यत दो रूपो मे मिलती है—

1 क्षोभ-मिश्रित घृणा के रूप मे—जहाँ कही शुक्ल जी ने जीवन की बुराई या विभीषिका का प्रसगवश अवलोकन अपने निबन्धो मे किया है, वही उसके कारणो की खोज करके उत्तरदायी व्यक्तियो या सामाजिक प्रथाओ और धारणाओ के प्रति या तो अपनी क्षोभमिश्रित घृणा व्यजित की है या हास्य-व्यग्य युक्त घृणा या विरक्ति को प्रकट किया है। पहले प्रकार की घृणा के पर्याप्त उदाहरण मिलते है। ढोगी सुधारको की खबर लेते हुए शुक्ल जी कहते हैं, "मैंने कई छिछोरो और लम्पटो को विधवाओ की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-लम्बे दास्तान हर दम सुनते सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव मे कामकथा के रूप म ऐसे वृत्तातो का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं, इस ढाचे के लोगो मे सुधार के कार्य मे कुछ सहायता पहुचने के स्थान पर बाधा पहुचने की ही सभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र मे भी ऐसे लोग गन्दगी फैलाते पाये जाते हैं।" (उत्साह)। शुक्ल जी की यह व्यग्य-फबती घृणोत्पादक ही है। इसी प्रकार उन्होने योरोप के व्यापारोन्माद के प्रति अपनी घृणा प्रकट की है, जिसके कारण मानव का शोषण हो रहा है। (देखिए 'भय' नामक निबन्ध)। उनके क्षोभ और क्षात्र तेज को निम्न पक्तियो मे देखिए—'जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शाति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्रधर्म की ससार मे एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।' (लोभ और प्रीति)। दस को पतला करके मोटा बनने वाले, अपने गरीब भाइयो से नफरत करने वाले मोटे आदमियो के प्रति भी उनका व्यग्यात्मक क्षोभ 'लोभ और प्रीति' मे देखते ही बनता है।

2. हास्य-व्यंग्ययुक्त घृणा के उदाहरण और भी अधिक मिलते हैं। लोभियो के जीवन की असगति और बुराई पर यह हास्य-व्यग्य-युक्त घृणा का प्रकाशन देखिए—"लोभियो का दमन योगियो के दमन से किसी प्रकार कम नही होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान मे समान भाव रखते है। अब और चाहिए क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा करते हैं, वह यदि उन्हे दस गालिया भी देता है, तो उनकी आकृति

पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है, और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। लोभियो! तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है, तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!" (लोभ और प्रीति)। हृदय की कैसी सुन्दर वेगपूर्ण प्रतिक्रिया है! इसी प्रकार हिन्दू जाति की फलासक्ति की भावना और अकर्मण्यता पर हास्य के रूप में उनकी प्रतिक्रिया फूट पड़ती है—"श्रीकृष्ण ने कर्ममार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे।" (उत्साह)। इसी प्रकार इस निबंध में वाग्वीरों पर व्यंग्य, सलाम-साधकों पर व्यंग्य भी उनकी भावुकता का परिचायक है। 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध में पक्के संगीतज्ञ पर जो फबती उन्होंने कसी है, वह भी हास्योत्पादक है। इस हास्य में घृणा नहीं, उनकी विरक्ति या अरुचि ही व्यंजित हुई है—"संगीत के पेंच-पाच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ' 'आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।" इसी प्रकार नकली श्रद्धा करने और करवाने वालों पर उनकी हास्यमिश्रित अरुचि स्पष्ट प्रकट हुई है। "पर जबकि इस व्यापार-युग में ज्ञान बिकता है, धर्म बिकता है तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिकें?...एक भाव पर दूसरे भाव की कलई करके हम बाजार में क्यों न जायें? अपनी भीरुता या चापलूसी को हम 'श्रद्धा' 'श्रद्धा' कहकर गलियों और संवाद-पत्रों में क्यों न पुकारें? ऐसे झूठे श्रद्धावानों से घिरकर झूठे श्रद्धा-पात्र सच्चे श्रद्धा-पात्रों को क्यों न मात करें, जबकि आजकल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं?"

आधुनिक टकाधर्म-सभ्यता पर उनकी फबती, नकली बाबुओं पर चुटकी, चौबेजी पर व्यंग्य ("भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है, पर चौबे जी पेट-भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं"—('लोभ और प्रीति') आदि उनके हृदय की ऐसी ही भावात्मक प्रतिक्रियाएं हैं।

ख साहित्यिक भावात्मक प्रसंग—शुक्ल जी को बौद्धिक यात्रा में जहां-जहां अवसर आता है, वे साहित्यिक भावात्मक प्रसंगों को उदाहृत कर अपने मन को

रमाते हैं। प्रिय के वियोग-जन्य दुःख मे प्रिय के सुख का अनिश्चय करुणात्मक होता है, यह दिखाने के लिए वे साहित्य से उदाहरण देते हैं। "राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती हैं—

वन को निकरि गए दोऊ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै है राम लखन दोउ भाई।

इसी प्रकार माता यशोदा के पुत्र-प्रेम मे वे अपना मन रमाते हैं (देखिए 'करुणा')। वियोग मे माता यशोदा का पुत्र-प्रेम—पुत्र के सुख का अनिश्चय—'संदेसो देवकी सों कहियो' वाले पद मे व्यंजित हुआ है। "कभी-कभी प्रिय के घोर अनिष्ट की आशका होती है, जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री सदेह करती है कि—

नदी किनारे धुआं उठत है, मैं जानू कछु होय।
जिसके कारण मैं जली वही न जलता होय॥

'लोभ और प्रीति' मे तो साहित्यिक भावात्मक प्रसंगो की भरमार है। याचक और दाता दोनो के लोभ की भर्त्सना के लिए वे रहीम का यह दोहा उदाहृत करते हैं—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनतें पहिले वे मुए जिन मुह निकसत नाहिं॥

सतोष का उदाहरण भक्तवर तुलसीदास से देते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो?...
यथालाभ सन्तोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो।

प्रेमी प्रिय पर अपना प्रेम जताना चाहता है, उसकी तुष्टि का उदाहरण ठाकुर के इस सवैये से दिया गया है—

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार विलोकि घरि घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
'आवत हैं नित मेरे लिए' इतनी तो विशेष कै जानति ह्वै है॥

प्रेम की उच्च दशा का उदाहरण वे सूर की गोपियो से देते हैं। इस दशा मे "प्रेमी प्रिय से कुछ नही चाहता, केवल यही चाहता है—प्रिय से नही, ईश्वर से—कि हमारा प्रिय बना रहे और हमे ऐसा ही प्रिय रहे—

जहँ जहँ रहो राज करो तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

इसी प्रसग मे शुक्ल जी बकिम बाबू की 'दुर्गेशनदिनी' से आयशा के जगतसिंह के साथ प्रेम का उदाहरण भी देते हैं। इस प्रकार कही पद्माकर की फाग खेलती नायिका की सरस उक्ति—'नैन नचाय कही मुसकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी' म, कही मण्डन के सरस शृंगारिक सवैये मे, कही रसखान के भगवद्भक्ति, भगवद्-सामीप्य के प्रसिद्ध सरस सवैये—'मानुष हो तो वही रसखान ' मे, कही तुलसी के भक्तिपूर्ण पदो मे, कही सूर, कही भारतेन्दु की सरस पदावली और कही देव, मतिराम तथा द्विजदेव का सरस भाव-धारा मे रसलीन होते हैं। शृगार-प्रेम, भक्ति, वीर, वात्सल्य, हास्य, क्रोध, रौद्र आदि रस और ग्लानि, करुणा, लोभ, दया, श्रद्धा, लज्जा, प्रेम आदि अनेक भावो की सरस भाव-धारा उनके निबन्धो मे स्थान स्थान पर मिलती है। हिन्दी तथा सस्कृत के वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि के साहित्यिक उदाहरण ही नही, अग्रेज कवियो और लेखको के साहित्यिक उद्धरणो से भी कही कही सरसता उत्पन्न की है। पोप की पक्तियो का हिन्दी-अनुवाद 'कविता क्या है' मे बडा सुन्दर है। सूर, तुलसी और जायसी की विस्तृत समीक्षाओ मे इन कवियो की भावुकता को तो उन्होने अपार सहृदयता से दिखाया है। वहा तो भावानुभूति ही भावानुभूति है।

ग क्षात्र-धर्म-कर्म-सौंदर्य मे मग्नता—हम कह आए हैं कि शुक्ल जी क्षात्र धर्म के कर्म-सौन्दर्य के सच्चे उपासक हैं। राम के कर्म सौन्दर्य मे उनका मन विशेष रूप से रमा है। एक उदाहरण देखिए—"कोमलागी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओ और कधे के ऊपर निकलती हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध हुई निविड और निर्जन काननो म नि शक विचर रही है। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुसकराकर एक बार प्रेम-दृष्टि स सीता की ओर देखते हैं, फिर वीरदर्प से राक्षसो की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढाते हैं। उस वीरदर्प मे कितनी उमग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा!" (लोभ और प्रीति)

घ प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, मानव-प्रेम और अतीत-प्रेम—शुक्ल जी का इस हसते-खेलते जगत और उसकी नाना प्राकृतिक रूप-छवियो से अपार अनुराग था। प्रकृति के प्रसग पर सर्वत्र उनका हृदय रमता दिखाई देता है। इन स्थलो पर ही बुद्धि के श्रम का वास्तविक परिहार हुआ है। एक उदाहरण देखिए—"यदि अपने भावो को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति मे ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लह--

लहाते हुए खेतो और जगलो, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालो, काली चट्टानो पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनो, मजरियों से लदी हुई अमराइयो और तट पर के बीच खडी झाड़ियो को देख क्षण-भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियो के आनन्दोत्सव मे उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलो को देख वह न खिला, यदि दीन-दुखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथो और अबलाओ पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढव और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हसा तो उसके जीवन मे रह क्या गया ? इस विश्वकाव्य की रसधारा मे जो थोडी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।" (कविता क्या है) । शुक्ल जी के प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम और जीवन-प्रेम से भरे प्रवृत्तिपरक हृदय की कैसी स्पष्ट झाँकी है ! अतीत-स्मृतियो मे भी शुक्ल जी का भावुक हृदय रमता है। "बाल्य या कौमार्य अवस्था मे जिस पेड के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ बैठा करते थे, चिडचिडी बुढ़िया की जिस झोपडी के पास होकर हम आते-जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है।" (वही) । प्रकृति-प्रेम तो अनेक स्थानो पर व्यजित हुआ है। इसी निबन्ध मे एक और उदाहरण देखिए, कवि की कल्पना भी सवेदना के साथ यहा विद्यमान है—"हम पेड-पौधो और पशु-पक्षियो से सम्बन्ध तोडकर बडे-बडे नगरो मे आ बसे, पर उनके बिना रहा नही जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे मे बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोडते नही बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जे के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यांव-म्यांव करक माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोडकर निकल पडते हैं। बरसात के दिनो मे जब सुर्खी-चूने, कडाई की परवा न कर हरी हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हम उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हम ढूढती हुई आती है और कहती है कि 'तुम हमसे क्यो दूर-दूर भागे फिरते हो ?" शुक्ल जी के कवि हृदय के ही नहीं, सचमुच पद्यबद्ध भावपूर्ण रचना करने वाले प्रकृति-अनुरागी कवि-रूप के दर्शन निम्न सवैये मे कीजिए। शुक्ल जी मानव द्वारा उपेक्षा के कारण, उसे घुडकी देते हुए बन्दर की भावना की कल्पना करते हैं—

देते हैं घुडकी यह अर्थ-ओज-हरी-हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह ?
पर-प्रतिबंध के प्रसार बीच तेरे, नर !

क्रीडामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं सह।
फूली-फली उनकी उमग उपकार की तू,
छेकता है जाता हम जाय कहाँ,तू ही कह।"

देश के कण-कण से परिचय पाने वाले उनके देश-प्रेम की व्यंजना भी कई स्थानों पर हुई है। देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम और अतीत-प्रेम का मिला जुला उदाहरण देखिए—"यदि देश प्रेम के लिए हृदय मे जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाडियो के बीच मे कैसे बह रहे है, टेसू के फूलो से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायो के झुड चरते हैं, चरवाहे तान लडा रहे है, अमराइयो के बीच मे गाव झाक रहे है। उनमे घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड की छाया के नीचे घडी-आध-घडी बैठ जाओ और समझो कि ये हमारे हैं यह तो वर्तमान प्रेम-सूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो, जिससे ये सब तुम्हारे प्यारे हो जाय। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हे प्रिय होगे।" (लोभ और प्रीति)। सभाषण शैली मे यह कथन किसी उपदेशक का नहीं, परम भावुक साहित्यकार का है।

ङ वैयक्तिक प्रसगों और घटनाओं के अनुभवों द्वारा भी शुक्ल जी ने अपने निबन्धो के भाव-पक्ष को दृढ किया है। एक लखनवी दोस्त के साथ साची जाने के प्रसग से उन्होने अपना प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम और बाबुओ पर व्यग्य आदि कई भावो को एक साथ व्यजित किया है। 'यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी-सी पहाडी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जगल है, जिसमे महुए के पेड भी बहुत-से हैं। वसत का समय था। महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—महुओ की कैसी मीठी महक आ रही है!" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, 'यहा महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग (पुरातत्त्व विभाग के लोग) देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन मे बडा भारी बट्टा लगता है।" (लोभ और प्रीति)। इसी प्रकार चूल्हा जलाने मे असफल 'ब्राह्मण देवता' के क्रोध की व्यक्तिगत अनुभूति 'क्रोध' निबंध मे प्रकट हुई है।

च पौराणिक, ऐतिहासिक तथा जनश्रुतियों के प्रसंग और दैनिक जीवन के अनुभूतिपूर्ण उदाहरणों द्वारा भी निबन्धो म सरसता और रोचकता का

मसावेश हुआ है। कही वे विश्वामित्र के वशिष्ठ की गाय के लिए अनन्य लोभ के पौराणिक प्रसग की ओर सकेत करते हैं, कही चाणक्य के उग्र क्रोध का उदाहरण देते है, कही एक पुराने काजी की कहानी सुनाते हैं—"किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रिया एक बच्चे को लेकर लडती हुई आई। एक कहती थी कि बच्चा मेरा है, दूसरी कहती थी, मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा—'अच्छा, तुम दोनो को बच्चा काटकर आधा-आधा बाट दिया जायगा।' इतना सुनते ही दोनो मे से एक स्त्री घबराकर बोल उठी—'जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दीजिए।' काजी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है।" इसी प्रकार शुक्ल जी अपने विचारो को स्पष्ट करने के लिए दैनिक जीवन के ऐसे उदाहरण देते हैं जो हमारी अनुभूति के सहज ही विषय बन जाते है। जैसे, "एक-दूसरे से परिचित दो आदमी रेल पर जा रहे हैं। इनमे से एक को अगले ही स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात मे एक ने दूसरे को तमाचा जड दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जाएगा"—(क्रोध)। इसी प्रकार घृणा और क्रोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—यदि आपको किसी के पीले दात देख घिन लगेगी तो आप अपना मुह दूसरी ओर फेर लेंगे, उसके दात नही तोडने जायगे पर यदि जिधर-जिधर आप मुह फेरते हैं उधर उधर वह भी आकर खडा हो तो आश्चर्य नही कि वह थप्पड खा जाय। यदि होली म कोई गदी गालिया बकता चला जाता है तो घृणा मात्र लगने पर आप उन्हें मारने न जायगे, उससे दूर हटेंगे, पर यदि जहाँ-जहाँ आप जाते हैं, वहाँ-वहाँ वह भी आप के साथ साथ अश्लील बकता जाता है तो आप उस पर पिल्ल पडेंगे।" (घृणा)

इस प्रकार शुक्ल जी के निबन्धो का भाव पक्ष बहुत प्रबल है। उनका हृदय सर्वत्र अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ-न कुछ कहता सुनता और पाता रहा है, सर्वत्र रमता रहा है। हृदय की इस प्रवृत्ति क कारण ही उनके गभीर निबन्धो मे सरसता और रोचकता का गुण आ गया है, बुद्धि और हृदय का सामजस्य हो गया है।

○○

11

शुक्ल जी की गद्य-भाषा-शैली

शुक्ल जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गद्य-शैली-निर्माता हैं। हिन्दी गद्य की भाषा और शैली के निर्माण मे भी, आलोचना की तरह, उनका सर्वाधिक महत्त्व है। यद्यपि भारतेन्दु ने सभी प्रकार के 'पनो'—उर्दूपन, पडिताऊपन, पूर्वीपन, आगरापन आदि—से भाषा को मुक्त करके उसे विशुद्ध और निश्चित रूप प्रदान किया था, पर भारतेन्दुयुग के लेखकों मे फिर भी व्यक्तिगत मनमाने प्रयोग, प्रातीय और ग्रामीण बोलियों के शब्द, ब्रज और पूर्वी के रूप-प्रयोग सामान्य रूप से पाये जाते थे। स्वय भारतेन्दु की भाषा ब्रज आदि के शब्दो से सर्वथा मुक्त न थी। व्याकरण के नियमो मे भी भाषा इस काल मे नही बंध पाई थी। अभिव्यंजना की व्यापक क्षमता और तीव्रता का भी अभाव रहा। भारतेन्दु के पश्चात् सक्रांति काल (सन् 1890 से 1905) मे तो गद्य-भाषा का रूप और भी विकृत और शिथिल होने लगा था। भाषा की अराजकता के इस समय मे द्विवेदी जी का शुभागमन हुआ। उन्होंने ही सर्वप्रथम भाषा-सुधार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भाषा को व्याकरणबद्ध करके द्विवेदी जी ने उसका सामान्य, स्थिर, परिष्कृत और प्राजल रूप प्रस्तुत किया। भाषा के सम्बन्ध मे पहली बार वास्तविक सामूहिक सामान्य भावना (General corporative sense) आई। द्विवेदी जी ने विभिन्न प्रकार की सामान्य शैलियों का निर्माण किया। किन्तु किसी वैयक्तिक प्रौढ शैली का विकास उनके द्वारा भी नही हुआ। हिन्दी में समासयुक्त कसी हुई व्यंजना-प्रधान गभीर प्रौढ शैली अभी तक नही उतर पाई थी। विचारात्मक निबन्धो की गभीर तथा तीव्र शैली के दर्शन सबसे पहले बाबू श्यामसुन्दरदास और शुक्ल जी मे हुए। इनमे बाबू श्यामसुन्दरदास की शैली निर्वैयक्तिक ही रही। कसाव, चुस्ती और सकोच-सक्षिप्तता के साथ ऐसा अर्थ-गांभीर्य और अर्थ-विस्तार जिससे ध्वनि और अर्थ की व्यापकता सिद्ध हो—अर्थात कला-लाघव—उनकी भाषा मे नही आ पाया। शुक्ल जी ही हिन्दी की प्रौढ साहित्यिक व्यजनाप्रधान समासयुक्त विवेचनात्मक वैयक्तिक शैली के जनक हैं। उनकी शैली की विशेषताओ पर हम आगे विशद प्रकाश डालेंगे। यहा शुक्ल जी का इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व समझ रखना चाहिए। निबन्धकला और समीक्षा के व्यापक रूप-संगठन मे तो शुक्ल जी का कार्य हिन्दी साहित्य की नव प्रगति का

उद्घोष करता ही है, भाषा-शैली के निर्माण मे भी उनका योगदान अभूतपूर्व है। हिन्दी के किसी ऐसे सफल लेखक का यदि नाम लिया जाय, जिसने भाषा की समस्त शैलियो—विवेचनात्मक-व्याख्यात्मक शैली और उस के विविध रूप—निगमन-आगमन, आलोचनात्मक, तर्कप्रधान, तुलनात्मक, गवेषणात्मक, उद्बोधनात्मक तथा निर्णयात्मक आदि सब शैलियाँ, भावात्मक शैली, वर्णनात्मक, विवरणात्मक शैली, सभाषण शैली, हास्य-व्यग्यात्मक शैली, आलकारिक शैली आदि—का निर्वाह समान अधिकार, योग्यता, प्रौढता, सफलता और सफाई के साथ किया हो, तो वे स्वनामधन्य प० रामचन्द्र शुक्ल ही हैं। इन सब शैलियो के उदाहरण हम आगे देंगे।

हमारे यहाँ गद्य को कवियो की कसौटी कहा गया है। शुक्ल जी ने एक और तथ्य की बात कही कि यदि गद्य कवियो की कसौटी है, तो निबध गद्य की कसौटी है। भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का जैसा विकास निबध मे सम्भव है, वैसा साहित्य की अन्य विधाओ मे नही। कहानी, उपन्यास आदि मे गभीर विवेचनात्मक शैली का विकास तो बिल्कुल असभव है ही, क्योकि नाटक, कहानी आदि कथा-साहित्य मूल रूप मे मनोरजन-प्रधान साहित्य है, दूसरी सभी शैलियो का विकास भी इनमे पूरा नही हो सकता। नाटक मे सवाद-शैली का ही प्रयोग होता है, और हास्य-व्यग्य, भावात्मक, आलकारिक आदि जो कुछ शैलिया आती हैं वे सवाद के ही आश्रय। अत इन शैलियो का भी स्वतत्र विकास सभव नही होता। कहानी मे नाटक की अपेक्षा अधिक शैलियो का निर्वाह हो सकता है पर उसकी भी सीमा है। इसी प्रकार उपन्यास मे भी घटनाओ, सवादो और कथा के साथ बधे रहने के कारण लेखक सब शैलियो का समान रूप से साधिकार निर्वाह नही कर पाता। निबन्धो के विषयो और रूप-विधियो की कोई सीमा ही नही। लेखक यहाँ स्वतन्त्र रूप से वैयक्तिक प्रयास दिखाता है। अत विभिन्न प्रकार की शैलियो का समुचित विकास निबन्ध ही मे सभव है। भावात्मक निबधो मे भावात्मक शैली, विचारात्मक निबन्धो मे विवेचनात्मक-व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक, गवेषणात्मक आदि विभिन्न शैलियाँ, विवरणात्मक निबन्धो मे कथात्मक शैली, वर्णनात्मक निबन्धो मे वर्णनात्मक शैली, हास्य-व्यग्यात्मक लेखो मे हास्य-व्यग्य-शैलियो का भी सफल विकास होता है। यही नहीं, एक ही प्रकार के निबन्ध मे लेखक अपनी मन प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न शैलियो को अपना सकता है। साराश यह कि गद्य-शैलियो का विस्तृत और सफल विकास जैसा निबन्धो मे सभव है, वैसा साहित्य की अन्य किसी विधा मे नही। निबन्धकार जो कुछ कहता है, अपनी ओर से ही। कहानी आदि मे तो कथा या सवाद आदि के सहारे लेखक आसानी से लिखता रहता है, पर

निबन्ध मे बिना भाषाधिकार के लेखनी चलाना कठिन है। इस दृष्टि से भी निबन्ध गद्य की कसौटी है। कहानी आदि मे व्याकरण की कही-कही अवहेलना भी हो जाती है, जो क्षम्य होती है, बल्कि सवाद आदि मे तो नाटकीयता या स्वाभाविकता कहकर उसे गुण ही मान लिया जाता है। पर निबन्ध मे भाषा पूर्णत व्याकरण सम्मत होती है, जो भाषा की शक्ति और उसके स्वरूप की निश्चितता और प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। निबन्ध विभिन्न प्रकार के विचारात्मक ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विषयो पर लिखे जाते हैं, अत सभी विषयो से सम्बन्धित प्रचलित और पारिभाषिक शब्दों का समावेश निबन्धो मे ही होता है। इस प्रकार भाषा के शब्द-भण्डार की पूर्णता निबन्धो की पूर्णता पर आधारित है। अत भाषा की अभिव्यजना शक्ति का पूर्ण विकास निबधो द्वारा ही होता है। किसी गद्य-लेखक की भाषा-शैली की पूर्ण शक्ति का उसके निबधो से ही पता चलता है। शुक्ल जी के ही गद्य को लीजिए, गद्य शैली का, भाषा का जो प्रौढ रूप उनके निबन्धो मे है—विशेषकर 'चिंतामणि' 1 के निबधो म, वह न उनके 'साहित्य के इतिहास' म उतनी पूर्णता के साथ पाया जाता है, न उनके अनुवादो म।

शुक्ल जी के निबन्ध हिन्दी गद्य के चरम विकास के द्योतक हैं, अत 'निबध गद्य की कसौटी है' वाली उक्ति उनके निबधो को देखते पूर्ण सार्थक सिद्ध होती है। शुक्ल जी ने अपने निबन्धो द्वारा हिन्दी गद्य-शैली के विभिन्न रूप-रगो और उसकी विविध भगिमाओ का विकास किया, भाषा की अभिव्यजना शक्ति को बढाया, उसके शब्द-भण्डार की वृद्धि की। 'एक ओर तो इस आचार्य ने भारतीय समीक्षा शास्त्र के विशाल कान्तार से ढूँढ-खोजकर ऋषि-मुनियो के समान स्वच्छ शब्दो के समुद्धार का कार्य किया, दूसरी ओर पाश्चात्य आलोचना के नए और पुराने इतिहास म फैले अनेकानेक अग्रेजी के शब्दो का व्यावहारिक प्रयोग हिन्दी मे उपस्थित किया।' सस्कृत के प्राचीन व्यावहारिक और पारिभाषिक—जैसे, ऊहात्मक, लाक्षणिक प्रयोग, सादृश्य-विधान, बिम्बग्रहण, विभावन-व्यापार, अन्योन्याश्रय, लोक-सग्रह, नाद-सौन्दर्य, रागात्मिका-वृत्ति, अज्ञात-कुलशील, ब्रह्मानन्द सहोदरत्व, तथा अग्रेजी के अनुवाद रूप मे पारिभाषिक शब्द जैसे, स्वच्छन्दतावाद (Romanticism), सर्ववाद (Pantheism) अभिव्यजनावाद (Expressionism), गत्यात्मक (Dynamic), प्रेषणीयता (Communicability), रूढि (Convention), इतिवृत्तात्मक (Matter of fact), आदर्शवाद (Idealism), प्रभाववादी समीक्षा (Impressionist Criticism), गद्यवत (Prosaic), स्वयप्रकाशज्ञान (Intuition), आदि शब्द उनके अपूर्व स्मारक हैं, जो रत्नखण्डो की भाँति हिन्दी भाषा को आलोकित किए हुए हैं।

"पर ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं होम करते जला है।" "हमींहम' वाले 'तुम भी' नहीं कह सकते, 'तुम्हीं तुम' की क्या बात है ?" (श्रद्धा भक्ति)। वाक्यो मे विलक्षण प्रयोगो की शुक्ल जी ने अपूर्व क्षमता दिखाई है। मुहावरो और लाक्षणिक प्रयोगो के अतिरिक्त वे शब्दो का ऐसा प्रयोग करते हैं जिससे कथन प्रभावशाली हो जाता है। दो समान सतुलित वाक्यो का बडा सुन्दर उदाहरण देखिए—"दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराइयों को नहीं। दूसरो से हम भाग सकते हैं, पर अपने से नहीं।" एक ही शब्द के विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगो का यह कैसा सुन्दर उदाहरण है—"आंख खुलने पर जो आंख खोलने वालों को ही देख सकें, उनको आंख की वरुरती मे बहुत कसर समझनी चाहिए।" (लज्जा और ग्लानि) तुक्दार शब्दो क प्रयोगो से सुन्दर सतुलित लक्षणा व्यजनायुक्त वाक्यावली का एक और उदाहरण लीजिए—लोक व्यवहार की दृष्टि से अनिष्ट से बचने बचाने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामे और धृष्टों का मुह—उनकी वन्दना करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम हाथ जोडेंगे, उधर वे हाथ छोडेंगे।" इसी प्रकार 'मनोविकारो का सान चढाना', 'ठठरियों पर मास चढना', 'दुबले होना', 'शब्द जबान पर नाचना', 'आखो म खटकना', 'टेढी सीधी सुनना', तमाचा जडना' आदि अनेक समर्थ लाक्षणिक प्रयोगो से शुक्ल जी की भाषा भरी पडी है। इनके सहारे उन्होंने अनेको सुन्दर वाक्यो की रचना की है।

कही कही वे अमूर्त भाव सूचक सज्ञा को सत्वपूर्ण बना कर प्रभावशाली ढग से व्यक्त करते हैं—' पर अज्ञान, चाहे अपना हो चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता। बलिपशु होकर ही हम उसके आश्रय मे पलते हैं।" ' प्रेम दूसरों की आंखो को नहीं देखता, अपनी आखों को देखता है।" आदि।

कही-कही श्लेष का सुन्दर प्रयोग मिलता है—"जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे है, उसे काव्यक्षेत्र से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिको तथा पगलो) क बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" (काव्य म रहस्यवाद)। कही कही विरोधाभास या विरोध-सूचक शब्दावली द्वारा भाषा को चमत्कारपूर्ण बनाया गया है—जैसे लोभियो को व्यग्य क साथ कहते हैं—"तुम धन्य हो ! तुम्हे धिक्कार है" तथा ' वात्सल्य और शृगार क क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आखों से किया उतना किसी अन्य ने नहीं।"

शुक्ल जी ने रूढ आलकारिक शैली का प्रयोग विशेष नही किया, किन्तु स्वाभाविक अलकरण उनकी भाषा मे पर्याप्त मिलता है। रूपक-योजना में—विशेष-

कर साग रूपको की सृष्टि मे उन्होने बहुत कुशलता दिखाई है। एक उदाहरण देखिए—'जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-केन्द्र का उदय होता है उस समाज मे भिन्न भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएं मेघ-खंडों के समान उठकर तथा एक ओर ओर एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा-सी उमड पडती है और मगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दु ख ओर क्लेश बह जाते हैं।" (श्रद्धा-भक्ति)। वाक्यार्थोपमा का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए—"रुपये के रूप, रस, गध आदि मे कोई आकर्षण नही होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते है उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मास पर टूटते होंगे।" उपमा, रूपक, लक्षणा व्यजना का मिला-जुला एक उदाहरण लीजिए—

"इन्हे जो कुछ हम श्रद्धावश देते हे, वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट मे जाता है, जहा से रस रूप मे उसका सचार अग-अग मे होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियो-अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अग मे उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतीसार या सग्रहणी वाले को खिलाया हुआ अन्न।" उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी कही-कही मिलता है—'वह (बरसात मे छत पर उगने वाली घास) मानों हमे ढूढती हुई आती है ओर कहती है कि तुम हमसे क्यो दूर-दूर भागे फिरते हो ?" (कविता क्या है)

इस प्रकार श्लेष, अनुप्रास, तुकदार शब्द, लाक्षणिक प्रयोग, मुहावरे, कही-कही लोकोक्ति, विरोधाभास, मानवीकरण, बिम्बग्राहिता आदि अनेक प्रयोगो द्वारा शुक्ल जी ने भाषा को सशक्त और व्यजनापूर्ण मार्मिक बनाया है।

शुक्ल जी ने अपनी वाक्यावली म भी विभिन्न प्रभावात्मक प्रयोग करके अपनी भाषा-शैली मे सौष्ठव उत्पन्न किया है। कहीं वे तुकदार सतुलित वाक्यो की योजना द्वारा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, कही तुलनात्मक वाक्यो म क्रिया को अन्त मे रखने की बजाय वाक्य का प्रभाव बढाने के लिए बीच मे ही रख देते हैं—"हम अपना मुह न दिखाकर लज्जा से बच सकते हैं, पर ग्लानि से नही।" "दूसरो का भय हमे भगा सकता है, हमारी बुराई का नही। दूसरो से हम भाग सकते हैं, पर अपने से नही।" "अनुभूति मन को पहली क्रिया है, सकल्प-विकल्प दूसरी।" आदि। कही-कही शुक्ल जो 'जिस प्रकार'....'उसी प्रकार', 'यदि'... 'तो' या 'जिनर', 'जिन' आदि सम्बन्ध-वाचक शब्दो की आवृत्ति द्वारा छोटे छोटे सतुलित अन्तर्वाक्यों मे गुफित एक प्रवाहपूर्ण लम्बे वाक्य की रचना करते हैं—जैसे, 'अब पूछिए कि जिन मे यह दया-प्रेम नही है उनमे यह किसी प्रकार हो भी सकता है ? हा, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की

प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमे अभ्यास पड जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है।" इस उद्धरण के प्रथम दो वाक्यो मे शुक्ल जी की व्याख्या-शैली का एक और रूप स्पष्ट हुआ है। वे अपनी बात को समझाने के लिए स्वय प्रश्न करते हैं और फिर उत्तर देते है। 'हा, हो सकता है—परिचय से सान्निध्य से।' यह बात-चीत के रूप मे समझाने की शैली का भी भव्य उदाहरण है।

भावात्मक स्थलो पर, जहा शुक्ल जी का हृदय रमता दिखाई देता है, वे समान लम्बाई के अत्यन्त छोटे छोटे अन्तरवाक्यो मे सकेत-वाचक समुच्चय-बोधक 'यदि" तो' के प्रयोग द्वारा भाषा मे चुस्ती, प्रवाह और प्रभाव उत्पन्न करते हैं—"यदि कलरव करते हुए पक्षियो के आनन्दोत्सव मे उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलो को देखकर वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथो और अबलाओ पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढव और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हसा तो उसके जीवन मे रह क्या गया ?" (कविता क्या है)।

शुक्ल जी की वाक्य-विन्यास-शैली की एक और व्यक्तिगत विशेषता है—निर्देशक-चिह्नो (dashes) के बीच अन्तर्गति की योजना। शुक्ल जी ने ही अग्रेजी के अनुकरण पर इस वाक्य-विन्यास शैली को हिन्दी म अच्छी तरह प्रचलित किया। शुक्ल जी मे यह शैली दो रूपो मे, मिलती है। एक म केवल एक निर्देश-चिह्न का प्रयोग होता है—जैसे, "अनन्त रूपो मे प्रकृति हमारे सामने आती है—कही मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपो मे कही रूखे बेडौल या कर्कश रूप मे, कही भव्य, विशाल या विचित्र रूप मे, कही उग्र "कराल या भयकर रूपो मे।" इस प्रयोग से कथन की व्याप्ति की सिद्धि होती है, और अलग क्रिया से युक्त अलग वाक्य-रचना बच जाती है। दूसरी शैली है दो निर्देशको के प्रयोग की—'करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र मे नही फेंकती है अर्थात जिस पर करुणा की जाती है वह बदले मे करुणा करने वाले पर भी करुणा नही करता—जैसाकि क्रोध और प्रेम मे होता है—बल्कि कृतज्ञ होता है अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।" यह प्रयोग ब्रैकेट ( ) के स्थान पर ही होता है। शुक्ल जी ब्रैकेटो का भी कही-कही प्रयोग करते है—"वे कभी तो आपसे आप विषयो को मन क सामने लाते हैं, कभी किसी विषय के आने पर उससे सम्बन्ध (पूर्वापर या कार्य-कारण-सम्बन्ध) रखने वाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं"—(करुणा)।

जैसा कि कहा जा चुका है, वैसे तो शुक्ल जी के निबन्धो मे प्राय: सभी प्रका
की गद्य शैलियो का यथावसर सफल प्रयोग हुआ है, पर उनके विचारात्मव
निबन्धो की प्रमुख शैली विवेचनात्मक है। शब्द-प्रयोग और अर्थ की दृष्टि से यह
शैली दो प्रकार की कही जाती है— एक व्यास शैली दूसरी समास शैली। समास
भी दो प्रकार का होता है—एक शब्दगत समास, दूसरा अर्थगत समास। शुक्ल
जी की विवेचनात्मक शैली समासयुक्त है, किन्तु यह समासात्मकता शब्द-समास
के रूप म नही है, अर्थ-समास क रूप मे है। शुक्ल जी ने शब्द-समास का प्रयो
भी किया है अवश्य, पर बडे स्वाभाविक रूप मे और कम। दो शब्दो या कही
कही तीन शब्दो से अधिक का उन्होने शब्द समास प्रयोग कही नही किया। 'सलाम
साधक', नाद-सौन्दय, 'लोक सग्रह', 'सिद्धान्त-वाक्य', 'लोक-जीवन-बद्ध' आि
शब्द-समास स्वाभाविक ही हैं, जो भाषा मे सकोच, गाभीर्य और सौष्ठव क
सचार करते है। पर शुक्ल जी की समास शैली की विशेषता उनके अर्थसमास
के ही कारण है। थोडे मे बहुत कहने की प्रवृत्ति उनमे विशेष रूप से पाई जाती
है। उनकी भाषा मे कसाव, गठन, अर्थ-सम्पन्नता और अर्थ विस्तार—अर्थात
व्यजनाशक्ति पर आधारित कला-लाघव—का गुण सबसे बडी विशेषता है
भाषा की इसी व्यजनाशक्ति के कारण शुक्ल जी ने अनेक अर्थ-गर्भित मार्मिक
उक्तियो का निर्माण किया है।

व्याख्यात्मक शैली शुक्ल जी की इस विवेचनात्मक शैली का प्रधान रूप है
व्याख्यात्मक विवेचनात्मक शैली के दो रूपो —निगमन और आगमन शैली—क
सफल प्रयोग शुक्ल जी की अपनी विशिष्टता है। इन दोनो का उन्होंने एक साथ
भी प्रयोग किया है, और अलग-अलग भी। शुक्ल जी ने आगमन शैली मे पहले
अपनी बात समझाकर—खूब उदाहरण, उद्धरण, तुलना, व्याख्या आदि द्वार
विषय स्पष्ट करके—फिर 'साराश यह कि', 'तात्पर्य यह कि', 'इससे सिद्ध हुआ'
'अत' आदि द्वारा अपने विषय को सारगर्भित वाक्य म सूत्रबद्ध सा करने का
प्रयत्न किया है। एक उदाहरण देखिए, शुक्ल जी साधारणीकरण मे 'विभावादि
साधारणतया प्रतीत होते हैं' को स्पष्ट करते हैं कि वाक्य मे अर्थग्रहण से काम नही
चलता, बिम्ब ग्रहण आवश्यक है। "बिम्ब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति
का ही होगा, सामान्य या जाति का नही।" 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह
है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो *व्यक्ति-विशेष या वस्तु विशेष* आती है, वह
जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय
पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति-विशेष के
प्रति किसी भाव की व्यजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना
मे वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।" कल्पना म मूर्ति तो विशेष की ही

होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो सबके प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन मे भी जगाए जिसकी व्यजना आश्रय अथवा कवि करता है। **इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा बहुत होता है।**" इसी प्रकार 'कविता क्या है' मे वे विषय को स्पष्ट करने के बाद कहते हैं—"**सारांश यह कि केवल साधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है।**" 'लोभ और प्रीति' में पहले विश्वामित्र के उदाहरण तथा व्याख्या से स्पष्ट करके फिर प्रघट्टक के अन्त मे स्थापना करते हैं—"**अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।**"

निगमन शैली का प्रयोग तो सर्वत्र ही मिलता है। प्रायः वे प्रघट्टक के आरभ मे कोई विचार, सिद्धान्त या मत सूत्र-रूप मे रखते हैं, फिर उदाहरणो, व्याख्या आदि के द्वारा उसे स्पष्ट करते हैं। 'ईर्ष्या' के निबंध ही कई पैरो मे—'**ईर्ष्या का दुःख प्राय निष्फल हो जाता है**,' '**ईर्ष्या मे प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है**', '**ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है**' आदि सूत्र-वाक्यो से आरम्भ होने वाले प्रघट्टको मे यह शैली स्पष्ट और सुन्दर है।

निगमन और आगमन दोनो शैलियो का एक साथ प्रयोग भी कही-कही देखने मे आता है। 'कविता क्या है' मे वे पहले सूत्र-रूप मे कहते हैं—"*भावो के विषयो और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारो मे जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयो और मूल व्यापारो से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा।*" इस बात को व्याख्या, उदाहरणो आदि से अच्छी तरह समझाकर फिर साराश देते है—"साराश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलो पर हम भावो \ विषयो के मूल और आदिम रूपो तक जाना होगा, जो मूर्त और गोचर होगे।···भावो के अमूर्त विषयों की तह मे भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे।"

शुक्ल जी अपनी उपर्युक्त व्याख्या शैली मे विषय को उलट-पलट कर अच्छी तरह समझाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी इस समझाने वाली शैली के कारण ही, *उनके निबन्धो के विषय गंभीर होते हुए भी, उनमे दुरूहता नही आ पाई।* उपर्युक्त शैलियो मे 'अत.', 'साराश यह', 'तात्पर्य यह', 'इसमे सिद्ध होता है' आदि का प्रयोग तथा 'बात यह है', 'अब देखना यह है', 'सोचने की बात यह है', 'निष्कर्ष यह', 'थोडा यह भी देखना चाहिए', 'अर्थात्', 'अब प्रश्न यह उठता है', 'इस प्रकार' आदि का प्रयोग उनकी व्याख्या शैली को पुष्ट करता है।

शुक्ल जी की विवेचनात्मक या आलोचनात्मक व्याख्यात्मक शैली कई रूपो मे पाई जाती है। जहा वे निर्णय देते है, वहा निर्णयात्मक शैली प्रकट हुई है, जहा

आदेश-निर्देश करते हैं, वहां उद्‌बोधनात्मक शैली का अच्छा रूप-विकास हुआ है, जहां वे तुलना करते पाए जाते हैं, वहां तुलनात्मक शैली, जहां तर्क करते हैं, वहां तर्कपूर्ण शैली, जहां व्यंग्य करते हैं, वहां व्यंग्यात्मक विवेचना शैली के भव्य दर्शन होते हैं। अब इन सब शैलियों के उदाहरण देखिए।

शुक्ल जी अपनी विवेचना-आलोचना में अवसर मिलने पर पाठकों साहित्य-कारों आदि को सावधान करते, आदेश-निर्देश देते भी पाए जाते हैं। ऐसे स्थलों पर उद्‌बोधनात्मक शैली खिली है। एक दो उदाहरण लीजिये— 1 "ऐसे लोगों को शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्र पक्ष का कुछ पता रखना या लगा लेना चाहिये।" 2. "योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे, यह आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे-पीछे रखें।"

निर्णयात्मक शैली का प्रयोग प्रधानतः साहित्य-आलोचना-सम्बन्धी निबन्धों में हुआ है। इस शैली में उनकी मत-स्थापना हुई है। कहीं-कहीं तुलनात्मक विवेचना करके निर्णय देने की प्रवृत्ति भी मिलती है—विशेषकर कवियों की तुलना में। एक दो उदाहरण इस शैली के भी देखिए—1 "भगवद्‌भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति (लोक-जीवन सापेक्ष) समीचीन मानते हैं। हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।" (लोभ और प्रीति)। 2 'अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष यह बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशों में की गई है।" (काव्य में रहस्यवाद)।

कहीं-कहीं वे अन्य सिद्धान्तों के खण्डन मण्डन में तर्क का सहारा लेते पाये जाते हैं। यह तर्कपूर्ण शैली भी समीक्षात्मक निबन्धों में ही विकसित हुई है। एक उदाहरण लीजिए—"उक्ति की वहीं तक की वचन भंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तल जी का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' मानते बनता है जहां तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बन्ध रखती हो; उसके आगे नहीं। "योरप में आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहां भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक ठीक बात की न भी हो। पर जैसाकि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न मानने वाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे।" (कविता क्या है)।

तुलनात्मक शैली शुक्ल जी के मनोभावो-सम्बन्धी निबन्धो मे भी खूब पाई जाती है और समीक्षात्मक निबन्धो मे भी। भावो का सूक्ष्म भेद और साम्य वे इसी शैली मे प्रकट करते है—"लोभ सामान्योन्मुख होता है, प्रेम विशेषोन्मुख," "प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा मे विस्तार", "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है," आदि सूत्र-वाक्यो म उनकी इसी कलालाघव से पूर्ण तुलनात्मक शैली के दर्शन होते है। सूर, तुलसी आदि की तुलनात्मक समीक्षा मे भी इसी तुलनात्मक-निर्णयात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्धो म भी यह शैली सर्वत्र पाई जाती है। एक और उदाहरण देखिये —"ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे जान पडेगा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषो के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न-किसी 'सामान्य' क प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहा के काव्यो मे आते रहे हैं। पर योरोपीय काव्य-दृष्टि इधर बहुत दिनो से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदो' म 'अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी भूठे सच्चे विलक्षण भेद खडे करके लोगो को चमत्कृत करने मे लगी रही।" (साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद)।

शुक्ल जी मे वैसे तो हास्य-व्यग्य शैली का स्वतत्र विकास भी बहुत भव्य हुआ है, और उसके आधार पर हम कह सकते है कि शुद्ध हास्य-व्यग्य-लेख लिखने की उनमे अद्भुत क्षमता थी, पर उनकी विवेचना-शैली के आश्रय भी हास्य-व्यग्य शैली प्रयुक्त हुई है। एक या दो उदाहरण लीजिए—1 "जैसे कपियो का स्वभाव तुलसीदास जी ने 'रूख तोडना' बताया है, वैसे ही कवियो का स्वभाव शब्द तोडना-मरोडना हो गया था।" 2 "एक प्रकार के कविराज तो रईसो के मुह मे मकरध्वज रस झोकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान मे मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (कविता क्या है)। शैली के इस प्रयोग से उनके गम्भीर निबन्धो मे एक विशेष सजीवता आ गई है।

इस प्रकार शुक्ल जी की विवेचनात्मक-व्याख्यात्मक शैली अनेक शैलियो को समेट कर चली है। उनकी शक्ति का सम्पूर्ण विकास अन्य किसी लेखक मे मिलना कठिन ही है। दृढता, अडिग विश्वास, बल और गाम्भीर्य उनकी विवेचना शैली के सबल गुण हैं। दृढता का सूचक एक उदाहरण देखिये—'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई झोंके उसे फिर जिला नही सकते।" कितनी शक्ति, विश्वास और दृढता भरी है इस वाक्य म ! विषय की सूक्ष्म पकड मे तथा भावो के सूक्ष्म निरूपण मे उनकी विश्लेषण-शक्ति का अपूर्व परिचय मिलता है। ऐसे स्थलो की शैली को

विवेचनात्मक-विश्लेषणात्मक शैली कह सकते हैं। शुक्ल जी सामान्यत अपने विचार या सिद्धान्त सूत्र रूप मे—अत्यन्त सक्षिप्त-सश्लिष्ट रूप मे प्रकट करते हैं। उदाहरणो-उद्धरणों, तुलना आदि से उनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं। इस विस्तृत व्याख्या मे अन्य सम्बद्ध और समान विचारो के विवेचन के साथ विपक्षी या असमान विचारो की समीक्षा, खण्डन मण्डन आदि भी करते चलते हैं। व्याख्या करते समय वाक्य-रचना प्राय सरल रहती है। जब अनेक 'विचारो का प्रवाह सा फूटता है, तो वाक्य अधिक गुम्फित, सघन और गहन अर्थ-सम्पन्न' होते हैं। "किसी सिद्धात की समीक्षा या विचार की व्याख्या करते हुए तर्क-युक्ति, कारण कार्य-सम्बन्ध, निष्कर्ष-प्राप्ति, निज मत-प्रकाशन आपकी शैली मे क्रमश रहता है। कहने का ढग पाठक को अभिभूत करता है। विवेचन मे चिन्तन, अध्ययन, मनन, निरूपण की सफाई, विषय की पकड और पाठक के मन मे उसे प्रवेश कराने की शक्ति—फोर्स—पूरी-पूरी मात्रा म रहते हैं।" (हिन्दी निबन्धकार (जयनाथ नलिन) पृ० 151)।

शुक्ल जी की इस विवेचना शैली की बडी भारी शक्ति, जैसा कि पहले भी कह आए हैं, व्यजना-शक्ति, कसाव अर्थात् कलालाघव है। ऐसे हजारों सूत्र-वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनम गभीर, गहन और विस्तृत अर्थ-परम्परा कमी और विचार-धारा भरी पडी है, जिनकी व्याख्या-दो चार वाक्यो म नही, एक दो पैरो म नही, अनेक पैरो मे ही हो सकती है। ऐसे सूत्र-वाक्यो क हम पीछे कई स्थानो पर उदाहरण दे चुके हैं, यहा दोहराना व्यर्थ है। **ऐसी सूत्र-शैली का प्रयोग करने वाला समर्थ लेखक हिन्दी में शायद ही कोई दूसरा हो।**

शुक्ल जी म विषयानुरूप शैली के प्रयोग की अपूर्व क्षमता थी। उनकी उपर्युक्त गम्भीर व्यजनाप्रधान समासयुक्त विवेचनात्मक-व्याख्यात्मक शैली और उसके विभिन्न रूपा क अतिरिक्त जहा-जहा उनकी सघन बौद्धिक यात्रा के श्रम का परिहार अपेक्षित रहा है, जहा-जहा मन को रमने के लिए भावानुभूति का साक्षात्कार हुआ है, वही भावात्मक और व्यग्य-विनोदात्मक शैली के झरने फूट पडे है। हास्य व्यग्यात्मक शैली का तो शुक्ल जी म बडा ही भव्य स्वतन्त्र विकास मिलता है। व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति कहीं-कहीं तो एक ही शब्द मे समस्त व्यग्य-विनोद को समेट लेती है—जैसे, 'विलायती कवि', 'चौबे जी', 'ब्राह्मण देवता', 'कलावन्त', 'वाग्वीर,' 'याचक कवि', 'मर्कट-तुल्य', 'मत्स्य तुल्य', 'हमीहम वाले' 'सलाम-साधक लोग' आदि। इन शब्दो के प्रयोग म ही गजब का व्यग्य है। शुक्ल जी की व्यग्य-शैली मे छिछलापन, हल्कापन कहीं नहीं मिलेगा। सर्वत्र शिष्ट, सयत अर्थ-गर्भित, चुटीला हास्य व्यग्य ही पाया जाता है। उपर्युक्त एक शब्द-प्रयोग के अतिरिक्त शुक्ल जी ने एक वाक्य तीर के प्रयोग द्वारा भी चुटीले और

तुलनात्मक शैली शुक्ल जी के मनोभावो-सम्बन्धी निबन्धो मे भी खूब पाई जाती है और समीक्षात्मक निबन्धो मे भी। भावो का सूक्ष्म भेद और साम्य वे इसी शैली मे प्रकट करते हैं—"लोभ सामान्योन्मुख होता है, प्रेम विशेषोन्मुख," "प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा मे विस्तार", "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है," आदि सूत्र-वाक्यो मे उनकी इसी कलालाघव से पूर्ण तुलनात्मक शैली के दर्शन होते है। सूर, तुलसी आदि की तुलनात्मक समीक्षा मे भी इसी तुलनात्मक-निर्णयात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्धो मे भी यह शैली सर्वत्र पाई जाती है। एक और उदाहरण देखिये —"ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे जान पडेगा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषो के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न-किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहा के काव्यो मे आते रहे हैं। पर योरोपीय काव्य-दृष्टि इधर बहुत दिनो से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदो' मे 'अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी भूठे-सच्चे विलक्षण भेद खडे करके लोगो को चमत्कृत करने मे लगी रही।" (साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद)।

शुक्ल जी मे वैसे तो हास्य-व्यग्य शैली का स्वतत्र विकास भी बहुत भव्य हुआ है, और उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि शुद्ध हास्य-व्यग्य-लेख लिखने की उनमे अद्भुत क्षमता थी, पर उनकी विवेचना-शैली के आश्रय भी हास्य-व्यग्य शैली प्रयुक्त हुई है। एक या दो उदाहरण लीजिए—1. "जैसे कपियो का स्वभाव तुलसीदास जी ने 'रूख तोडना' बताया है, वैसे ही कवियो का स्वभाव शब्द तोडना-मरोडना हो *गया था।*" 2. "एक प्रकार के कविराज तो रईसो के मुह मे मकरध्वज रस भोकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान मे मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (कविता क्या है)। शैली के इस प्रयोग से उनके गम्भीर निवन्धो मे एक विशेष सजीवता आ गई है।

इस प्रकार शुक्ल जी की विवेचनात्मक-व्याख्यात्मक शैली अनेक शैलियो को समेट कर चली है। उनकी शक्ति का सम्पूर्ण विकास अन्य किसी लेखक मे *मिलना कठिन ही है। दृढता, अडिग विश्वास, बल और गाम्भीर्य उनकी* विवेचना शैली के सबल गुण हैं। दृढता का सूचक एक उदाहरण देखिये—'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई झोंचे उसे फिर जिला नही सकते।" कितनी शक्ति, विश्वास और दृढता भरी है इस वाक्य म! विषय की सूक्ष्म पकड मे तथा भावो के सूक्ष्म निरूपण मे उनकी विश्लेपण-शक्ति का अपूर्व परिचय मिलता है। ऐसे स्थलो की शैली को

विवेचनात्मक-विश्लेषणात्मक शैली कह सकते हैं। शुक्ल जी सामान्यत अपने विचार या सिद्धान्त सूत्र रूप मे—अत्यन्त सक्षिप्त-सश्लिष्ट रूप मे प्रकट करते हैं। उदाहरणो-उद्धरणो, तुलना आदि से उनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं। इस विस्तृत व्याख्या मे अन्य सम्बद्ध और समान विचारो के विवेचन के साथ विपक्षी या असमान विचारो की समीक्षा, खण्डन मण्डन आदि भी करते चलते हैं। व्याख्या करते समय वाक्य-रचना प्राय: सरल रहती है। जब अनेक 'विचारो का प्रवाह सा फूटता है, तो वाक्य अधिक गुम्फित, सघन और गहन अर्थ-सम्पन्न' होते हैं। "किसी सिद्धात की समीक्षा या विचार की व्याख्या करते हुए तर्क-युक्ति, कारण-कार्य-सम्बन्ध, निष्कर्ष-प्राप्ति, निज-मत-प्रकाशन आपकी शैली मे क्रमश: रहता है। कहने का ढग पाठक को अभिभूत करता है। विवेचन मे चिन्तन, अध्ययन, मनन, निरूपण की सफाई, विषय की पकड और पाठक के मन मे उसे प्रवेश कराने की शक्ति—फोर्स—पूरी-पूरी मात्रा मे रहते हैं।" (हिन्दी निबन्धकार (जयनाथ नलिन) पृ० 151)।

शुक्ल जी की इस विवेचना शैली की बडी भारी शक्ति, जैसा कि पहले भी कह आए हैं, व्यजना शक्ति, कसाव अर्थात् कलालाघव है। ऐसे हजारों सूत्र-वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनमे गभीर, गहन और विस्तृत अर्थ-परम्परा कसी और विचार-धारा भरी पड़ी है, जिनकी व्याख्या दो-चार वाक्यो मे नही, एक-दो पैरो में नही, अनेक पैरो मे ही हो सकती है। ऐसे सूत्र-वाक्यो के हम पीछे कई स्थानो पर उदाहरण दे चुके है, यहा दोहराना व्यर्थ है। ऐसी सूत्र-शैली का प्रयोग करने वाला समर्थ लेखक हिन्दी मे शायद ही कोई दूसरा हो।

शुक्ल जी मे विषयानुरूप शैली के प्रयोग की अपूर्व क्षमता थी। उनकी उपर्युक्त गम्भीर व्यजनाप्रधान समासयुक्त विवेचनात्मक-व्याख्यात्मक शैली और उसके विभिन्न रूपो के अतिरिक्त जहा-जहा उनकी सघन बौद्धिक यात्रा के श्रम का परिहार अपेक्षित रहा है, जहा-जहा मन को रमने के लिए भावानुभूति का साक्षात्कार हुआ है, वही भावात्मक और व्यग्य-विनोदात्मक शैली के झरने फूट पडे है। हास्य-व्यग्यात्मक शैली का तो शुक्ल जी मे बडा ही भव्य स्वतन्त्र विकास मिलता है। व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति कहीं-कहीं तो एक ही शब्द मे समस्त व्यग्य-विनोद को समेट लेती है—जैसे, 'विलायती कवि', 'चौबे जी', 'ब्राह्मण देवता', 'कलावन्त', 'साखोर,' 'याचक कवि', 'मर्कट-तुल्य', 'मत्स्य तुल्य', 'हमीहम वाले' 'मलाम-साधक लोग' आदि। इन शब्दो के प्रयोग मे ही गजब का व्यग्य है। शुक्ल जी की व्यग्य-शैली मे छिछलापन, हलकापन कहीं नहीं मिलेगा। सर्वत्र शिष्ट, सयत, अर्थ-गर्भित, चुटीला हास्य व्यग्य ही पाया जाता है। उपर्युक्त एक शब्द-प्रयोग के अतिरिक्त शुक्ल जी ने एक वाक्य तीर के प्रयोग द्वारा भी चुटीले और

तीक्ष्ण व्यंग्य कसे हैं। कुछ उदाहरण देखिए 1 "एक बेवकूफी करने मे लोग सकोच नही करते, और सब बातो मे करते है"। 2 'हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढी थी, पर ये लोग (नक्ली) बाघ की बोली भी बोल लेते है।" 3. 'हमीहम' वाले 'तुम भी' नही सह सकते, 'तुम्ही तुम' की क्या बात है ?' 4. "जो कहते हैं कि हम अज्ञात-अव्यक्त की अनुभूति से मतवाले हा रहे हैं, उन्हे काव्य-क्षेत्र से निकल कर मतवालो के बीच अपना हावभाव, नृत्य दिखाना चाहिए।" 5 'आजकल सार्वजनिक उद्योगो की बडी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने गये हैं।" **इन उद्धरणो मे व्यग्य के साथ हल्का-सा हास्य का पुट भी मिला हुआ है। कहीं-कहीं विशुद्ध स्फुट हास्य के भी उदाहरण मिलते हैं,** जैसे 'क्रोध' नामक निबन्ध मे जो ब्राह्मण देवता की कारंवाई सुनाते हैं, उससे परिस्थिति के हास्य का फुव्वारा छूटे बिना नही रहता—'एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूकते-फूकते थक गए। जब आग न जली तब उस पर क्रोध करके चूल्हे मे पानी डालकर किनारे हो गए।" इस उदाहरण म व्यग्य का लक्ष्य इतना नही जितना शुद्ध हास्य-विनोद का। **इसके साथ ही शुक्ल जी मे केवल व्यग्य की भी प्रवृत्ति पाई जाती है।** इन व्यग्य बाणो का उद्देश्य चुटकी लेना ही नहीं अपितु विपक्षी को मर्माहत करना भी है। ऐसी सीधी तीव्र व्यग्योक्तिया मे शुक्ल जी की अरुचि, खीझ और क्षोभ की व्यजना हुई है—"रवीन्द्र बाबू यदि अनन्त की ओर ताका करें तो यह आवश्यक नही कि सबकी टकटक उसी ओर लगे।" 2. "कोरे शब्द व्यवसायी केशवदास जी को कमल और चन्द्र को प्रत्यक्ष देखने मे कुछ भी आनन्द नही आता था, केवल वाक्या मे उपमा-उत्प्रेक्षा आदि क अन्तर्गत उनका वर्णन या उल्लेख ही भाता था—'देखें मुख भावै अनदेखेई कमल चन्द '।' इतने पर भी उनके कवि होने मे कोई सदेह नही किया गया।"

शुक्ल जी की हास्य-व्यग्य शैली कुछ लम्बे वाक्यो मे भी सुन्दर ढग से पाई जाती है—जैसे, 'उत्साह' निबन्ध मे भारतीयो की फलासक्ति, ब्राह्मणो को गरमी मे एक पेठा देकर लाभ-प्राप्ति की भावना पर मीठा हास्यपूर्ण व्यग, नक्ली श्रद्धा करने-करान वालो पर 'श्रद्धा-भक्ति' मे व्यग्य आदि।

भावावेश मे शुक्ल जी की हास्य-व्यग्य-शैली का एक और रूप सामने आता है। इस मे वाक्य-योजना दीर्घ, भावात्मक प्रवाह और भाषा मे प्रभावपूर्ण व्यजना-शक्ति की भव्यता पाई जाती है। सम्बोधशैली का सुन्दर उदाहरण देखिए—'लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हे धिक्कार

है।" व्याज-स्तुति और व्याज-निन्दा से विरोधाभास का चमत्कार प्रकट करने वाली व्यजनापूर्ण शैली और सतुलित वाक्यावली ने कथन मे कितना प्रभाव तथा व्यग्य को कितना सजीव बना दिया है! इसी प्रकार का दूसरा सुन्दर उदाहरण देखिये—"मोटे आदमियो! तुम जरा दुबले हो जाते—अपने अदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियो पर मांस चढ जाता।"

इस प्रकार हास्य-व्यग्य-शैली के प्रयोग की शुक्ल जी मे अद्भुत क्षमता थी। कही उन्होने विषय और परिस्थिति का हास्य प्रकट किया है, कही शब्दगत हास्य। कही वे उर्दू फारसी के शब्दो के प्रयोग द्वारा हास्य-व्यग्य उत्पन्न करते हैं, कही अग्रेजी के 'फैशन', 'लेक्चर', 'लाइसेंस' आदि प्रचलित शब्दो द्वारा। उनकी हास्य-व्यग्य की प्रवृत्ति से प्रमाणित होता है कि उन मे शुद्ध हास्य-व्यग्यात्मक निबन्ध रचने की अपूर्व प्रतिभा थी।

शुक्ल जी की भावात्मक शैली भी कई रूपो मे मिलती है। उनका भावुक हृदय अनुकूल वातावरण पाकर मचल उठता है, पर सयम के साथ, उच्छृखल वह नही होता। कवियो की भावुकता के प्रकाशन मे तो उनका हृदय रमा ही है, अन्यत्र भी मार्मिक स्थलो पर वे हृदय का बाध खोल देते हैं। व्यग्यात्मक-भावात्मक शैली का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है, आत्मोल्लास से पूर्ण उनकी भावात्मक शैली का एक उदाहरण देखिए—'चित्रकूट ऐसे रम्यस्थान मे राम और भरत ऐसे रूपवानो की रम्य अन्त प्रकृति की छटा का क्या कहना है!" यह शैली 'धन्य है,' 'क्या कहना', 'अहहा!' आदि द्वारा प्रयुक्त हुई है। एक और उदाहरण लीजिए—"वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का *विरोध नही और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियो को एक-दूसरे का लोभी* बनाए रहती है, वह भी परम पूज्य है।"

क्षोभपूर्ण भावात्मक शैली का दर्शन कीजिए—"कोरी साधुता का उपदेश पाखड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है, और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।' शुक्ल जी की भावात्मक शैली मे सम्पूर्ण वाक्य छोटे-छोटे सतुलित अन्तर्वाक्यो से समन्वित प्राय दीर्घ होते हैं। उनमे भाव के साथ ही भाषा का प्रवाह बराबर मिलता है। शुक्ल जी का हृदय ऐसी स्फीत भाव-धारा मे विशेष रूप से रमा है। 'यदि ` तो' आदि शब्दो की आवृत्ति द्वारा भी प्रभावात्मकता आई है—'यदि वह लहलहाते हुए खेतो और जगलो, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालो, काली चट्टानो पर चादी की तरह ढलते हुए झरनों, मजरियो से लदी हुई अमराइयो और तट पर के बीच खडी झाडियो को देख कर क्षण-भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियो के

आनन्दोत्सव मे उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलो को देख वह न खिला,··· तो उसके जीवन में रह क्या गया ?"

भावपूर्ण सभाषण-शैली का भव्य रूप भी शुक्ल जी मे देखिये—"यदि देश-प्रेम के लिए हृदय मे जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले भाडियो के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायो के झुड चरते हैं, चरवाहे तान लडा रहे हैं, अमराइयो के बीच मे गाव झाक रहे हैं। उनमे घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड की छाया के नीचे घडी-आध-घडी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आखो मे समा जायेगा, तुम उसके अग-प्रत्यग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अन्त-करण मे इस इच्छा का उदय होगा कि वह हम से कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहे।" (लोभ और प्रीति)।

कही-कही कथा-प्रसगो के उल्लेख मे शुक्ल जी की कथात्मक या विवरणात्मक शैली का भी अच्छा परिचय मिलता है। यह अत्यन्त सरल सुबोध व्यास शैली है। 'लोभ और प्रीति' मे लखनवी दोस्त के साथ साची का स्तूप देखने के प्रसग मे, पुराने काज़ी की कथा के वर्णन मे तथा अन्य सभी इतिवृत्तात्मक प्रसगो मे, इस शैली का सफल निर्वाह हुआ है। इन सब के उदाहरण पाठक पीछे देखें।

शुक्ल जी मे वर्णन की भी अपूर्व क्षमता थी। कही-कही वर्णनात्मक शैली का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। "बुड्ढी की झोपडी मे न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारो पर फूस का छप्पर पडा था, नीव के किनारे चढी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभहरित कटीले कटावदार पौधे खडे थे जिनके पीले फूलो के गोल सम्पुटो के बीच लाल-लाल बिन्दियां झलकती थी।" (कविता क्या है)।

शुक्ल जी ने यद्यपि समास बहुल सस्कृत-गर्भित उस अलकृत शैली का विशेष प्रयोग नही किया जो गोविन्दनारायण मिश्र आदि कुछ लेखको मे शुक्ल जी से पूर्व पाई जाती थी, तो भी एकाध स्थल पर उन्होने उस शैली का भी सफल प्रयोग दिखाया है। निम्न उद्धरण मे शुक्ल जी की उक्त शैली के साथ उनकी वर्णन-शक्ति और कटाक्ष या व्यग्य की प्रवृत्ति भी मिलती है। अत इसमे वर्णनात्मक कटाक्षपूर्ण समास-बहुल सस्कृत-गर्भित अलंकृत शैली है—"जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसाद के सौरभ-सचार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुजार, कोकिल-

कूजित निकुंज और शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखिर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्ण-स्फुरण को विशालता, भव्यता और विचित्रता मे ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नही।" (कविता क्या है)

शुक्ल जी की भाषा शैली की इस विशद और विस्तृत विवेचना के पश्चात् अब विचारना यह है कि उन पर जो क्लिष्टता, रुक्षता और दुरूहता का आरोप लगाया जाता है, वह कहा तक युक्तियुक्त और सगत हैं। जैनेन्द्र जी उनकी भाषा शैली म प्रसाद गुण का अभाव बताते है—"उनकी शैली म लोच नही है और दूसर के दृष्टिकोणो के लिए समाई नही है। हिन्दी का परीक्षार्थी ही हिन्दी का पाठक नही है। जीवन की विषमताओ से जूझने वाला भी हिन्दी का पाठक है। वह क्या शुक्ल जी को पढ सकेगा ? मुझे बताइये कि जिसम प्रसाद नही, प्राण स्पन्दन नही, प्रीति की खीच नही, उसकी ओर कोई किस स्वार्थ से खिचे ?" ('शुक्ल जी की मनोभूमि' निबंध)। पता नही जैनेन्द्र जी शुक्ल जी म उपन्यासकार ढूढ रहे हैं या कहानीकार अथवा साहित्यालोचक और निबधकार ? शुक्ल जी मे स्पष्टता और सजीवता का अभाव मानते नही बनता। निश्चय ही 'विषमताओ से जूझने वाले' साधारण पाठक के लिए उन्होने नही लिखा। उनकी रचनाए विकसित साहित्यिक रुचि वाले साहित्यकारो के लिए ही है। उनका क्षेत्र ही केवल साहित्य-आलोचक का है। इस लिए उनके विषय साधारण बुद्धि के पाठक की समझ मे आने वाले नही। गभीर विषयो को बिल्कुल अनुरूप शैली मे उन्होने अपनाया है। उनकी शैली दुरूह और रूखी नही कही जा सकती। दुरूह तो उनके विषय ही हैं, जो पाठक से पर्याप्त बौद्धिक विकास और साहित्य-चेतना की अपेक्षा रखते हैं। शुक्ल जी ने तो उलटा सूक्ष्म और गभीर सिद्धान्तो, मतो और विचारो को सर्वत्र स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'इतनी सम्मत, परिष्कृत, प्रौढ, विशुद्ध और सुष्ठु भाषा का रूप है जिसमे व्यावहारिक तथा सार्थक, भाषा का चलतापन भी बना रहता है, कसाव और गुफन इतना कि न वाक्य निकाला जा सके, न कोई शब्द। लगता है एक-एक शब्द लेखक के मस्तिष्क मे अपने अस्तित्व का चित्र बनाये है।"

शुक्ल जी की व्याख्या शैली मे हम स्पष्ट कर आए हैं कि शुक्ल जी अपने विषय को विभिन्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं और शैली मे रोचकता और सजीवता लाते हैं। अत दुरूहता और रुक्षता का आरोप व्यर्थ है। इतनी समर्थ, स्पष्ट

और रोचक शैली मे ऐसे गभीर विषयो का सूक्ष्म प्रतिपादन किसी लेखक ने किया हो, इसमे सदेह है।

शुक्ल जी की शैली उनके व्यक्तित्व की अपूर्व परिचायक है। जर्मन लेखक बफन का कथन—Styte is the man himself—उनकी शैली मे पूर्णतया चरितार्थ होता है। उनके गभीर व्यक्तित्व के अनुरूप उनकी शैली भी गभीर है। पारिभाषिक शब्द-निर्माण, कसाव, गहन विचारो का गुफन, गाभीर्य, वल दृढता, लाक्षणिकता, बिम्ब-ग्राहिता, हास्य-व्यग्य, निर्देशको का प्रयोग, अर्थ-गर्भित सूत्र-वाक्यावली आदि उनकी शैली की ऐसी व्यक्तिगत विशिष्टताए हैं, जो उन्हे हिन्दी का सर्वसमर्थ लेखक सिद्ध करती है।

शुक्ल जी की शैली मे कुछ खटकने वाली बातें भी उल्लेखनीय हैं। 1. कही-कही जहा समास बाहुल्य आ गया है, वहां अर्थ समझने मे दुरूहता आ गई है, जैसे इस उक्ति मे—व्यक्ति-सम्बन्ध-हीनसिद्धात-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हो, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं।" यही बात तत्समप्रधान समासयुक्त अलकृत-शैली के उपर्युक्त उदाहरण मे है। 2 कही-कही वाक्य-विन्यास अस्पष्ट और चिन्त्य है—यथा, "निन्दा का भय लज्जा नही है, भय ही है, और बातो का जिनमे लज्जा भी एक है।" 3. एकाध स्थल पर वाक्य बहुत लम्बा हो गया है, जिससे अर्थ समझने म अच्छी कसरत करनी पडती है, जैसे—"कोई बात ऐसी है जिसके प्रकट हो जाने के कारण हम दूसरो को अच्छे नही लगते हैं, यह जानकर अपने को, और प्रकट होने पर हम अच्छे न लगेंगे यह समझकर उस बात को, थोड बहुत यत्न से उनक दृष्टिपथ से दूर करके भी जब हम समय पर अपना बचाव कर सकते हैं, यही नही, अपने व्यवधान-कौशल पर सदा बचते चले जाने की आशा तक—चाहे वह झूठी हो क्यो न हो—कर सकते हैं, तब हमारा केवल यह जानना या समझना सदा सुधार की इच्छा ही उत्पन्न करेगा, कैसे कहा जा सकता है?" इस लम्बे वाक्य का आशय आसानी से समझ नही आता। 4 एक दोष ऐसे वाक्यों मे पाया जाता है, जहाँ निर्देशको के अन्तर्गत सामग्री अधिक हो गई है। ऐसे स्थलो पर—अर्थसगति बैठाने म विलम्ब के कारण अर्थबोध मे कठिनाई होती है।

इन नगण्य न्यूनताओ के बावजूद शुक्ल जी की भाषा-शैली हिन्दी गद्य की समृद्धि और विकास की एक अद्भुत मजिल है। उन्होने भाषा की अभिव्यजना-शक्ति को बढाया, उसमे प्रौढता, गाभीर्य, शालीनता, गठन और कसावट का समावेश किया, उसकी विविध शैलियो की सफल प्रतिस्थापना मे अपूर्व योग दिया।

००

12

विशिष्ट निबन्धकारों से तुलना

शुक्ल जी का स्थान

शुक्ल जी के निबन्धकार की यथासम्भव सम्पूर्ण विशेषताओं का प्रकाशन हम पीछे कर चुके हैं। निबन्ध साहित्य के इतिहास में उनका ऐतिहासिक महत्त्व तो निर्विवाद रूप से सर्वाधिक है। क्या विचार-सम्पन्नता की दृष्टि से, क्या शैली की प्रौढ़ता, कौशलता और सौष्ठव की दृष्टि से, क्या उस समय की सभी गद्य-शैलियों के उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से, क्या भाषा की अभिव्यंजना शक्ति, कला लाघव और गांभीर्य की दृष्टि से तथा क्या निबंधकला के सामान्य विकास की दृष्टि से, उनका स्थान सर्वोच्च है। उन्होंने ही सर्वप्रथम हिन्दी-निबन्ध को प्रौढ़ता के उच्च सोपान पर चढ़ाया। इस दृष्टि से उनसे प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। अब देखना यह है कि अब तक के हिन्दी निबन्ध साहित्य के विकास में उनका क्या स्थान है। कुछ विद्वानों का तो मत है कि 'आलोचक शुक्ल से प्रतियोगिता के लिए अनेक समीक्षक संभवतः अखाड़े में उतरें भी, निबन्धकार शुक्ल से प्रतियोगिता का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?' परन्तु शुक्ल जी के वास्तविक स्थान के निर्धारण में कुछ संयम की अपेक्षा है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि विचारात्मक निबन्ध-लेखक की दृष्टि से शुक्ल जी का महत्त्व सर्वोपरि है। हिन्दी साहित्य के पिछले 45 वर्षों में उच्च कोटि के विचारात्मक निबन्ध लिखे गए हैं, संदेह नहीं। पर अधिकांश निबन्धों में बिल्कुल मस्तिष्क ही मस्तिष्क रहता है। विषय से सीधा सम्बन्ध न रखने वाला एक भी शब्द बहुत से निबन्धों में नहीं मिलेगा। मोन्तेन के आत्म-ज्ञापन की बात तो दूर रही, भाव-अर्णव की एक भी वीचि बहुत निबन्धों में नहीं मिलती। ऐसे निबन्ध शुष्क शास्त्रीय लेख ही कहला सकते हैं, शुद्ध साहित्यिक निबन्ध नहीं। ये निबन्ध-लेखक न कभी अपनी संवेदना प्रकट करते हैं, न व्यंग्य-विनोद, न इनके हृदय में भाव-हिलोरें उठती हैं, न सौंदर्य की विद्युत ही कभी कौंधती है। उदाहरणार्थ डा० धीरेन्द्र वर्मा के निबन्ध-संग्रह 'विचारधारा' के कुछ निबन्ध, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के 'साहित्य और धर्म' जैसे गूढ़ निबन्ध, बाबू श्यामसुन्दरदास के अधिकांश निबन्ध, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के संग्रह 'योग प्रवाह' के तथा श्री वासुदेवशरण अग्रवाल आदि के अधिकांश निबन्ध ऐसे

ही हैं, जिनमें लेखक की व्यक्तिगत छाप तथा हृदय की कोमलतम अनुभूतियों का प्रायः अभाव है ऐसे निबन्धों में निबन्ध-कला का ह्रास ही समझना चाहिये। वास्तव में ऐसे विचारात्मक गंभीर निबंध बहुत ही कम लिखे गये हैं, जिनमें बुद्धि और हृदय का, विषय और व्यक्तित्व का सामंजस्य हो। आप चाहे हिन्दी के वर्तमान श्रेष्ठ साहित्य-विचारक डा० नगेन्द्र के निबन्ध पढ़िए (उनके कुछ निबन्ध अपवाद अवश्य हैं), चाहे नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० देवराज, बाबू गुलाब राय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (इन दोनों के केवल आलोचनात्मक निबन्ध) तथा नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका, अलोचना, साहित्य संदेश, हिन्दुस्तानी अकदमी, सम्मेलन-पत्रिका आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में छपने वाले विभिन्न विद्वानों के लेख पढ़िए, इनमें आपको चिंतन का वैयक्तिक गूढ़ प्रयास तो शुक्ल जी जैसा ही मिल सकता है, पर बीच-बीच में सरस भाव स्रोत अपेक्षाकृत कम ही मिलेंगे। ऐसे निबन्धों का सम्बन्ध प्रायः खोजों और गंभीर विवेचनाओं से होता है। यहाँ लेखक की प्रवृत्ति तथ्य और तर्क से अपने विषय के प्रतिपादन में ही रहती है। शुक्ल जी के समीक्षात्मक निबन्धों में यह प्रवृत्ति न हो, ऐसी बात नहीं पर हमारा उद्देश्य तो तुलना द्वारा यह सिद्ध करना है कि अपने समीक्षात्मक निबन्धों में शुक्ल जी हिन्दी के ऐसे निबन्ध-लेखकों में किसी से कम नहीं। अपनी भावात्मकता, शैली की प्रौढ़ता तथा दृढ़ता में सबसे बढ़े-चढ़े हैं। दूसरे, शुक्ल जी के मनोविकारों-सम्बन्धी निबन्धों से उपर्युक्त सभी निबन्धकारों का कोई मुकाबला नहीं। इन निबन्धों में कला का जो उत्कर्ष है, वह शायद ही किसी लेखक के निबन्धों में हो। विचारात्मक निबन्धों का जो चरमोत्कर्ष शुक्ल जी के इन निबन्धों में है, वह अन्यत्र मिलना कठिन है। हमारे अध्ययन में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और जैनेन्द्र जैसे एकाध ही लेखकों के निबन्ध ऐसे आए हैं, जिनमें बुद्धि और हृदय का सुन्दर समन्वय है। सरस विचारात्मक निबन्ध हिन्दी में बहुत कम मिलते हैं। शुक्ल जी ने विचारात्मक निबन्धों की जिस प्रौढ़ शैली को उत्कर्ष पर पहुँचाया है, वह हमें अन्य लेखकों में उतनी भव्य रूप में नहीं मिलती। उनकी-सी सजीवता, सरसता, सूक्ष्मता, गहरी पैठ और निर्भीकता किसी विचारात्मक निबन्धकार में नहीं। आगे हम हिन्दी के कुछ विशिष्ट विचारात्मक निबन्धकारों से शुक्ल जी की तुलना करके उनके महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

शुक्ल जी और महावीर प्रसाद द्विवेदी—महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले विचारात्मक निबन्धकार माने जाते हैं। यद्यपि इनसे पूर्व बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि निबंधकारों ने भी कुछ शुद्ध विचारात्मक निबंध लिखे हैं, पर विचारों का वह गांभीर्य उनमें नहीं था। द्विवेदी जी का प्रयास कुछ अच्छा

रहा। पर द्विवेदी जी भी निबध-कला को प्रौढता और सजीवता तथा गहन-गभीर चिन्तन एव विवेचना-शक्ति प्रदान नही कर सके। उनके आलोचक, सुधारक, शिक्षक और सम्पादक रूप ने ही उनके निबधकार का निर्माण किया है। अत. निबध कला का स्वतन्त्र व्यक्तिगत विकास वे नही कर सके। पत्रकार के नाते उनके अधिकाश लेखो का उद्देश्य 'सरस्वती'-पाठको का मनोरजन और ज्ञान-वर्धन ही रहा है। अत विविध विषयो की जानकारी—गूढ-गभीर-विवेचना नही—ही उनके निबध कराते हैं। शुक्ल जी की तरह पाठक को मानसिक-श्रम-साध्य नूतन बौद्धिक उपलब्धि उनके निबधो मे नही होती। **मौलिक गभीर विचारधारा उनमे बहुत कम है। 'सामयिकता की रक्षा, जनता के प्रश्नो का समाधान और समाज को गतिविधि देने के लिए मार्गदर्शन—इससे प्रेरित होकर'** सम्पादक-आलोचक द्विवेदी जी ने इधर-उधर से विविध विषय-सामग्री का आश्रय लेकर अपनी शैली मे विविध निबन्धो-लेखो की रचना की। उन्होने भाषा, साहित्य, इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान, व्यापार-उद्योग, भूगोल, पुरातत्त्व, दर्शन आदि अनेक विषयो को अपनाया—इस दृष्टि से शुक्ल जी की परिधि सीमित ही है—पर इन विषयो पर स्थायी कलात्मक साहित्यिक निबध लिखने मे वे विशेष सफल नही हो सके। द्विवेदी जी की भाषा मे स्वच्छता, सरलता और सौष्ठव तो है, पर शैली मे न तो व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा है, न शिष्ट व्यग्य-वक्रता, न कसाव है और न ही व्यजनापूर्ण कला-लाघव। भाषा शैली के विविध रूप द्विवेदी जी मे भी मिलते हैं, पर व्यक्तित्व की वह छाप उनकी किसी शैली मे नही आ पाई, जो शुक्ल जी मे है। फिर भी द्विवेदी जी के कुछ निबधो मे निबध कला का अच्छा विकास हुआ है। निबधो के प्रारम्भ और अन्त मे द्विवेदी जी ने कुछ कलात्मक विशिष्टता दिखाई है। शुक्ल जी ने इस ओर विशेष ध्यान नही दिया। वे तो सीधे विषय-विश्लेषण-प्रतिपादन करते हुए ही निबध को आरम्भ करते हैं, और विषय-निरूपण और स्पष्टीकरण के पश्चात् सीधे ढग से ही निबध को समाप्त कर देते हैं, किसी प्रकार की कलात्मक विशिष्टता लाने का शुक्ल जी प्रयास नही करते। शुक्ल जी ने अपने प्राय प्रत्येक मनोभाव-सबधी निबध को मनोविकार की परिभाषा देते हुए ही आरम्भ किया है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी मे विविधता और कुछ कलात्मक प्रयोग मिलते हैं। कही वे आत्म-निवेदन करते हुए प्रस्तावना करते हैं, कही भावात्मक शैली मे भावप्रधान सबोधन से आरम्भ करते हैं, कही कथा-शैली अपनाते है, तो कही गभीर विवेचन करते हुए आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार द्विवेदी जी निबध को समाप्त भी विशेष ढग से करते हैं—कभी सूक्ति या किसी उद्धरण के रूप मे, कभी उद्बोधनात्मक-उपदेशात्मक शैली मे। वास्तव मे द्विवेदी जी का ऐतिहासिक महत्त्व ही अपूर्व

है। भाषा-सुधारक, सम्पादक और लेखक-निर्माता के रूप मे वे सदैव अमर रहेंगे, साहित्यकार के रूप मे उनका महत्त्व उतना नही। इस प्रकार शुक्ल जी का निबधकार भारी ठहरता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास और शुक्ल जी बाबू श्यामसुन्दर दास शुक्ल जी के समकालीन उन निबधकारो मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जिन्होने हिन्दी मे साहित्य समीक्षा-सम्बन्धी गभीर निबधो का सूत्रपात किया। बाबू जी भी पहले समीक्षक हैं, फिर निबधकार। उनका आलोचक उनके निबधकार पर छाया रहता है। हम पहले कह चुके हैं कि बाबू जी के निबधो म निबधकार की भावुकता का प्राय अभाव है। शैली की भी विशिष्टता उनमें नही आ पाई। शुक्ल जी के विपरीत उनकी शैली निर्वैयक्तिक ही रही। उन्होने भी शुक्ल जी की तरह साहित्यिक विषयो को ही अपनाया, और इस दृष्टि से उनका विषय-चयन भी सीमित ही है—शुक्ल जी से भी सीमित। भाषा सस्कृत-तत्सम प्रधान ही है। न उर्दू के मुहावरे मिलेंगे, न उर्दू-शब्द, न व्यग्य-विनोद की प्रवृत्ति है, न लाक्षणिक प्रयोग ही करते हैं। भाषा अपेक्षाकृत सरल है, पर शुक्ल जी जैसा कसाव और कला-लाघव नही। इस प्रकार बाबू श्यामसुन्दर दास के निबधो मे निबध-कला का विकास न शैली की दृष्टि से प्राप्त होता है और न भाव प्रकाशन की दृष्टि से। उनके निबधो मे हिन्दी गद्य-शैलियो के विविध रूप भी नही मिलते। उनकी शैली भी विवेचनात्मक ही है पर इस शैली के रूप-प्रयोगों की विविधता और विशिष्टता नही पाई जाती। उनके निबधो मे सरसता, सरलता, शैलीगत रोचकता और आत्मीयता का सामान्य रूप से अभाव है। विषय की सूक्ष्म पकड तो उनमें है और दुरूहता भी नही, पर रूखापन-सा सर्वत्र छाया रहता है। अत. शुक्ल जी मे निबधकार की प्रतिभा बाबू श्यामसुन्दर दास जी से अधिक माननी पड़ेगी।

बाबू गुलाबराय और शुक्ल जी—बाबू गुलाबराय भी सामयिक निबधकारो मे प्रथम श्रेणी के अधिकारी है। आपने भी द्विवेदी युग से ही—किन्तु द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त—लेखन-साधना आरम्भ कर दी थी। निबधकार की वास्तविक प्रतिभा का आप मे उत्तरोत्तर बडा भव्य विकास हुआ है। विचारात्मक और भावात्मक-सस्मरणात्मक दोनो प्रकार के सुन्दर निबधो की आपने रचना की है। है। आपके निबध भी आपके विस्तृत अध्ययन और मनन के परिचायक हैं। आपके निबधकार के असली दर्शन हम आपके भावात्मक निबधो में प्राप्त होते है। 'फिर निराशा क्यो' सग्रह मे विचार और भाव का सुन्दर सामजस्य भी है, मनोवैज्ञानिक सस्पर्श भी है, पर शुक्ल जी के मनोभावो-सबधी निबधो जैसी प्रौढता उनम नही है। फिर भी 'फिर निराशा क्यो ?', 'कर्तव्य--

सम्बन्धी रोग', 'निदान और चिकित्सा', 'समाज और कर्तव्य-पालन' आदि निबध अच्छे बन पडे हैं। साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी निबन्धो मे बाबू जी के विस्तृत अध्ययन, सार-ग्राहिणी तीक्ष्ण बुद्धि और सूक्ष्म आलोचना-शक्ति का पूरा परिचय मिलता है, पर मौलिकता, शैलीगत विशिष्टता आदि की दृष्टि से शुक्ल जी के निबन्धो की समता मे वे नही आते। फिर भी बाबू गुलाबराय के निबन्धो मे विषय-प्रतिपादन सरल, सुलझे, सुन्दर ढग से हुआ है। विषयानुसार भाषा के भिन्न-भिन्न रूपो का प्रयोग आपकी शैली की विशेषता है। चिंतन-प्रधान गभीर विषयो की भाषा-शैली भी गभीर तत्सम-बहुला रहती है। वैयक्तिक सस्मरणात्मक प्रसगो मे ('मेरी असफलताए', 'मेरा जीवन-बीमा' सग्रह) हृदय की स्वच्छन्दता के कारण भाषा-शैली का बहुत ही सुन्दर-चलता, व्यग्यपूर्ण सरल रूप मिलता है। उन मे उर्दू के शब्द और मुहावरे भी आए है, लोकोक्तिया और उद्धरण-उदाहरण भी प्रयुक्त हुए हैं। देशज-तद्भव शब्द भी खुले प्रयोग मे आए है। गभीर और सरल दोनो शैलियो का सुन्दर निर्वाह बाबू गुलाबराय जी की विशेषता है। पर निबन्धगत रोचकता, सरसता, स्वच्छन्दता तथा वैयक्तिकता जैसी भावात्मक निबन्धो मे प्राप्त होती है, वैसी विचारात्मक निबन्धो मे नही। गुलाबराय जी ने अनेक विषयो पर अधिकारपूर्ण लेखनी चलाई है। इस दृष्टि से वे शुक्ल जी से बढे हुए लगते है। साहित्य-सिद्धान्त, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, दर्शन, सक्षिप्त जीवन-चरित्र, वैयक्तिक सस्मरण आदि अनेक विषयो पर उन्होने निबन्ध लिखे हैं और अतिम समय तक भी बराबर लिखते रहे हैं। आपकी निबन्ध-कला मे विकास भी बहुत पाया जाता है पर एक बात बार बार कहनी पडती है कि विचारात्मक निबन्धकार के रूप मे वे शुक्ल जी जैसी विशिष्टता स्थापित नही कर सके। क्या ही अच्छा होता, यदि गभीर विवेचनात्मक विचारात्मक निबन्धो मे भी उनके व्यक्तित्व का स्वच्छन्द रूप और शैली की विशिष्टता 'अधेरी कोठरी' मे प्रकाशपुज की तरह आभा विकीर्ण कर देते।

वासुदेवशरण अग्रवाल और शुक्ल जी· विचारात्मक निबन्धकारो मे अग्रवाल जी भी उल्लेखनीय हैं। आपके निबन्धो मे भारतीय इतिहास, पुरातत्व, धर्म दर्शन, कला सस्कृति और साहित्य का गवेषणात्मक गभीर अध्ययन प्राप्त होता है। प्राचीन दर्शन, दार्शनिक-आचार्यों, धर्म-सस्थापको, देवी-देवताओ तथा अन्य वैदिक-पौराणिक व्यक्तियो और विषयो की बुद्धि-सगत, वैज्ञानिक खोजपूर्ण व्याख्याए और मौलिक स्थापनाए आपको एक बहुत बडा विचारक सिद्ध करती हैं। शैली भी आपकी सरल और बोधगम्य है। प्राचीन भारतीय सास्कृतिक और धार्मिक तत्वो के सम्बन्ध मे इस प्रकार के खोजपूर्ण विद्वत्तापूर्ण कार्य ने निश्चय ही हिन्दी के विचारात्मक निबन्ध-साहित्य के अभाव की पूर्ति की है—

उसे विचार-सम्पन्नता दी है। हिन्दी-निबन्ध साहित्य मे साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध लिखने की ही अधिक प्रवृत्ति रही है, अग्रवाल जी ने अपने निबन्धो द्वारा हिन्दी निबन्ध की विचारधारा को व्यापक और पुष्ट किया। गवेषण की ओर शुक्ल जी की प्रवृत्ति विशेष न थी। परन्तु निबन्ध-कला का सौष्ठव शुक्ल जी मे ही मिलेगा, अग्रवाल जी मे नही। विद्वत्ता, गवेषणात्मक गभीरता और विवेचनात्मक प्रौढता मे भी अपने सबल व्यक्तित्व और विशिष्ट-शैली का प्रकाशन वे शुक्ल जी के समान बिल्कुल नही कर पाये। उनके निबन्ध शास्त्रीय चिंतन-प्रधान लेख मात्र बन कर रह गए हैं। न उनमे साहित्यकार की स्वच्छन्दता और भावात्मकता है, न शैली की रोचकता और प्रभाव। अत शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से वे लेख अधिक हैं, निबन्ध कम। शुक्ल जी से उनकी निबन्ध-गत तुलना ही क्या !

शान्तिप्रिय द्विवेदी और शुक्ल जी—छायावादी लच्छेदार काव्यात्मक कोमल, रगीन कल्पनामयी शैली मे विचार-मथन और विचार-विमर्श करने वाले विशिष्ट विचारात्मक निबधकार के रूप मे शान्तिप्रिय द्विवेदी का बहुत महत्त्व है। विराट आत्मिक-सास्कृतिक चेतना, छायावादी दार्शनिकता और आध्यात्मिकता तथा गाधीवादी नैतिकता आपकी विचार-धारा और भाव-धारा मे सामान्य रूप से होती है। नव्य जीवन-दृष्टि से ओत-प्रोत विचार आपके निबधो मे मिलते हैं। आपने साहित्य-समीक्षा और कवियो पर भी कुछ निबध लिखे हैं जिनम समीक्षा की पूर्णता तो नही, प्रभाववादी रसास्वादन अवश्य है। इसी कारण ये निबध स्वय रचनात्मक साहित्य का अग बन गए हैं। इस प्रकार इनके आलोचनात्मक निबधो मे विवेचन की गहराई पर भाषा की रगीनी और भावुकता छा जाती है। यद्यपि एक विशिष्ट छायावादी भावात्मक शैली का सचार करके द्विवेदी जी ने विचारात्मक निबधो मे एक नया भावोन्मेष उत्पन्न किया, पर बौद्धिक गहनता, विवेचन की स्पष्टता और शैली वैविध्य और प्रौढता आदि की दृष्टि से शुक्ल जी की महत्ता अधिक है।

डॉ० नगेन्द्र और शुक्ल जी—साहित्य समीक्षा के क्षेत्र मे डा० नगेन्द्र हिन्दी के वर्तमान श्रेष्ठ आलोचक हैं। आलोचक नगेन्द्र की लेखनी से ही निबध-रचना हुई है। नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि साहित्य-आलोचक-*निबधकारो की अपेक्षा उनमे निबधकार की विशिष्टता का अधिक विकास हुआ* है, फिर भी उनका आलोचक रूप उनके निबधकार पर प्राय छाया रहता है। आपमे विचारो की सूक्ष्मता, गहराई और विवेचन की स्पष्टता शुक्ल जी से कम नही। साहित्य के आप निस्सदेह प्रकाण्ड पडित हैं। कई निबधो मे भावात्मकता और शैली की विशिष्टता भी बहुत भव्य रूप मे उतरी है। विषय

की दृष्टि से तो आप शुक्ल जी की ही तरह साहित्य-समीक्षा तक ही सीमित रहे हैं, पर आकार और रूप-शैली की दृष्टि से आपने कई निबधो मे नाटकीय प्रयोग करके विशिष्टता और विविधता ला दी है। 'वाणी के न्याय-मन्दिर में' नामक निबध नाटक के ढग पर है, 'हिन्दी उपन्यास' गोष्ठी के रूप मे लिखा गया है, 'हिन्दी मे हास्य की कमी' में वार्तालाप-शैली को अपनाया गया है और 'कवीन्द्र के प्रति' भावात्मक निवेदन-पत्र के रूप में है। पर अधिकाश निबधो मे बौद्धिक यात्रा ही है, हृदय की भावात्मक प्रक्रिया नही। शैली मे भी न शुक्ल जी जैसी लाक्षणिक मगिमा है, न मुहावरे और व्यग्य-वक्रता तथा न ही कसाव और सूत्रात्मकता ही पाई जाती है। शैली और सवेदना म वे अपनी विशिष्टता स्थापित नही कर सके, इसी लिए शुक्ल जी जैसा निबध-वैशिष्ट्य उनमे नही आ पाया।

श्री जैनेन्द्र कुमार और शुक्ल जी विषय-क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से देखें, क्या गहन गुफित विराट विचारधारा और मौलिक चिंतन-मनन की दृष्टि से और क्या भाषा-शैली के वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व की सबलता की दृष्टि से, जैनेन्द्र जी के निबध उच्चकोटि के विचारात्मक निबध हैं। **'साहित्य की सचाई', 'धर्म', 'राष्ट्रीयता,' 'न्याय', 'सस्कृति की बात', 'दान की बात', 'दीन की बात'**, (सामाजिक), **'गाधीवाद का भविष्य'** (राजनीतिक) आदि अनेक विषयो —जीवन की अनेक समस्याओ पर युगानुकूल सजगता, सूक्ष्म चिंतन-दृष्टि और इतनी सवेदना के साथ निबध लिखने वाला दूसरा लेखक शायद ही हो—शुक्ल जी भी नही। शुक्ल जी का क्षेत्र केवल साहित्य-समीक्षा का क्षेत्र ही है, उन्होने साहित्य मे से ही जीवन की ओर झाका है, पर जैनेन्द्र जी का क्षेत्र वर्तमान जीवन, सस्कृति और उसकी अनेक समस्याए तथा प्रश्न हैं, उन्होने इनमे से ही साहित्य की ओर झाका है। जैनेन्द्र की जीवन-दृष्टि शुक्ल जी से बहुत बढी-चढी है। शुक्ल जी की ही तरह वे एक बहुत बडे विचारक, हिन्दी मे विशिष्ट गद्य-शैली के निर्माता, सबल व्यक्तित्व के प्रकाशक तथा सहृदय साहित्यकार हैं। बोलचाल की सरल-सीधी भाषा मे गभीर चिंतन की बातें समझाना उनकी बडी विशेषता है। उनकी विशिष्ट शैली म बातचीत-का सा मजा आता है। अभिव्यक्ति शैली के नाना रूप प्रयोगो की दृष्टि से भी वे शुक्ल जी से कम विशेषता नही रखते। कही व्यजना-अभिव्यजना, कही लक्षणा-मुहावरे, कहावत, कही उपमा, कही विरोधाभास, कही व्यग्य-वक्रता, सर्वत्र वाक्य-विन्यास की विशिष्टता, कही प्रश्नो की झडी, कही कथोपकथन—सशक्त और सबल शैली के अनूठे प्रयोग उनकी भाषा को सजीव बनाते हैं। साराश यह कि विचारात्मक निबध की कला जैनेन्द्र मे आकर और गौरवान्वित हुई है। जैनेन्द्र जी की तुलना मे शुक्ल जी का महत्त्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि

से ही अधिक रह जाता है। हिन्दी के विचारात्मक निबंधकारों मे शुक्ल जी, जैनेन्द्र जी और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को हम वृहत्त्रयी मानते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और शुक्ल जी—विशिष्ट विचारात्मक विषयो मे पाण्डित्य, सूक्ष्म चिंतन, शैली का मधु रस और मुग्धकारी सहृदयता भर देना द्विवेदी जी की सामान्य विशेषता है। 'आपके निबंध गहन अध्ययन के विस्तृत पट पर बने वर्तमान जागरण के मनोहर चित्र हैं।' सभी सीमा-क्षेत्रो से निबंधो के विषयों का चुनाव, प्रकार और शैली की अनेकरूपता, संस्कृति समन्वय, मानव के प्रति अकम्पित आस्था और ज्योतिर्मय भविष्य की आशा आपको हिन्दी निबंधकारो मे गौरवपूर्ण स्थान दिलाती है। साधारण हल्के-फुल्के विषयो मे भी निबंधता के साथ अपने पाण्डित्यपूर्ण विचारक व्यक्तित्व की आभा विकीर्ण कर देना आपकी एक ऐसी विशेषता है, जो अन्यत्र मिलनी कठिन है। इसके अतिरिक्त गवेषणात्मकता, विषय की विविधता, आत्मीयता, पाठक से सीधा ममतापूर्ण सम्बन्ध, बढी-चढी ऐतिहासिक-सास्कृतिक चेतना आदि कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो शुक्ल जी मे नही मिलती। शैलीगत वैशिष्ट्य और प्रयोग की विविधता भी द्विवेदी जी मे खूब पाई जाती है। उनका सबल व्यक्तित्व उनके निबंधो मे सर्वत्र उतरा है। कुछ खोजपूर्ण आलोचनात्मक निबधो म विषय पर लक्ष्य रहने के कारण रोचकता और भावात्मक सजीवता नही पाई जाती। फिर भी द्विवेदी जी की टक्कर का लेखक मिलना कठिन है। विचारात्मक निबध-लेखक के रूप मे शुक्ल जी का ऐतिहासिक महत्त्व ही अधिक माना जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि हिन्दी निबध साहित्य मे विचारात्मक-निबधकार के रूप मे शुक्ल जी सर्वोच्च पद क अधिकारी हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व तो निर्विवाद रूप से सबसे अधिक है ही, निबधकला के आजतक के विकास की दृष्टि से भी उनकी टक्कर के जैनेन्द्र जी, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि एक-दो निबध-लेखक ही है। निबंध का असली रूप हम विचारात्मक ही मानते हैं, अत. जब हम यह कहते हैं कि विचारात्मक-निबध-लेखक के रूप मे शुक्ल जी सर्वश्रेष्ठ हैं, तो इसका अभिप्राय यही लेना चाहिए कि समग्र हिन्दी-साहित्य मे उनका सर्वोच्च स्थान है। हमारा निबध-साहित्य शुक्ल जी के पश्चात नाना-विध प्रगति कर चुका है, तथा कर रहा है, इसमे सदेह नही। पर शुक्ल जी अपना जो स्थायी स्थान बना गए हैं, उसकी उपेक्षा सदैव असम्भव रहेगी।

००

13

शुक्ल जी के आरम्भिक निबंध और अनूदित लेख

जैसाकि आरम्भ मे ही कहा गया था, शुक्ल जी के 'चितामणि' 1-2 मे सकलित निबधो के अतिरिक्त कुछ आरम्भिक मौलिक और अनूदित निबध भी हैं, जो 'सरस्वती', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'आनन्द कादम्बिनी' आदि पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए थे। उनमे से कुछ अब 'चितामणि' 3 मे सकलित कर पुस्तक रूप मे प्रकाशित हो गए है। मौलिक निबधो मे कुछ तो सक्षिप्त जीवन चरित्र है, कुछ—'भ्रम', 'निद्रा-रहस्य', 'मित्रता' आदि अमूर्त विषयो से सम्बन्धित हैं, कुछ—'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी', 'कविता क्या है' आदि साहित्य से सम्बन्धित हैं। इन निबधो मे उनकी निबध-कला का आरम्भिक रूप ही है। किन्तु उनकी निबधकला के क्रमश विकास का अध्ययन करने के लिए इन निबधो से परिचय पाना बहुत जरूरी है। चितामणि 1-2 के प्रौढ निबधो तक शुक्ल जी इन्ही के द्वारा आए हैं। इन निबधो की ही प्रवृत्ति और शैली का विकास 'चितामणि' 1-2 के निबधों मे हुआ है। उपर्युक्त प्राचीन निबंध भी साहित्य-समीक्षा और मनोभावो से ही सम्बन्धित है। महापुरुषो के सक्षिप्त जीवन चरित्र उन्होने बाद मे नही लिखे, किन्तु जीवन के उच्च मूल्यो का चयन और लोक-मगल की भावना 'चितामणि' 1-2 के निबधो मे इन्हीं प्राचीन निबधो से आई है। ये आरम्भिक निबध भी सभी विचारात्मक हैं—अधिक गूढ न सही, व्याख्यात्मक-परिचयात्मक ही सही। द्विवेदी काल के निबधो म इनका भी महत्वपूर्ण स्थान है। आरम्भ मे एक-दो निबध शुक्ल जी ने अन्य लेखको के निबधो के आधार पर भी लिखे थे जैसे, 'प्राचीन भारतवासियो का पहरावा' (डा० राजेन्द्रलाल मित्र के एक अग्रेजी लेख के आधार पर)। अनूदित निबध भी विचारात्मक विषयो—दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास और सस्कृति—से ही सम्बन्धित हैं। शुक्ल जी ने अग्रेजी के ही लेखो का अनुवाद 'सदाचार और उत्तम प्रकृति', 'अशहत्व', 'पारस का प्राचीन इतिहास', 'भारत के इतिहास मे हूण', 'प्रगति या उन्नति, उसका नियम और निदान', 'प्राचीन भारतवासियो की समुद्र-यात्रा' आदि लेखो मे किया है। इस समस्त आरम्भिक प्रयास से उनकी चिंतन-प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

चिंतामणि 3 में संकलित निबंध

चिंतामणि 3 मे जिन 21 निबंधों का सकलन किया गया है, वे हैं—साहित्य, कल्पना का आनंद, बाबू काशीनाथ खत्री, अपनी भाषा पर विचार, फ्रेडरिक पिन्काट, कविता क्या है, उपन्यास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी, हिन्दी की पूर्व और वर्तमान स्थिति, विश्वप्रपच की भूमिका, क्षात्र धर्म का सौन्दर्य, शशाक की भूमिका, मम्यता के आवरण और कविता, प्रेमघन की छाया-स्मृति, प्रेम आनदस्वरूप है, गद्य-प्रबध के प्रकार, कविता की परख, हिन्दी और हिन्दुस्तानी, शेष स्मृतियों की प्रवेशिका, स्वागत भाषण।

शुक्ल जी का 'साहित्य' शीर्षक लख 1904 ई० मे 'सरस्वती' के मई अक मे प्रकाशित हुआ था। यह उन्होने अग्रेजी के न्यूमन के लिट्रेचर नामक लेख के आधार पर लिखा था।[1] इस लेख से जाहिर है कि शुक्ल जी किस प्रकार साहित्य की महती शक्ति को आरभ से पहचानते रहे हैं। आज हमे इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि शुक्ल जी ने अग्रेजी के अन्य अनेक साहित्य-चितको को छोडकर कार्डिनल न्यूमन के 'लिट्रेचर' नामक निबध को ही आधार बनाकर अपना 'साहित्य' निबध क्यो लिखा ! परन्तु इसका उत्तर स्पष्ट यही है कि उन्हे 'साहित्य' शीर्षक के अतर्गत साहित्य-सम्बधी जो महत्त्वपूर्ण अवधारणा इस निबध मे मिली, वैसी शायद अन्यत्र एक जगह उपलब्ध न थी। न्यूमन के इस निबध मे भाषा और विचार दोनो की अभिन्नता का स्वीकरण होते हुए भी विचार को अधिक महत्त्व दिया गया है और विचार के अतर्गत कल्पना, भावना, बुद्धि आदि व्यापक कथ्य-पक्ष स्वीकारा गया है। साहित्य की जो *व्यापक और उदात्त* परिकल्पना शुक्ल जी के जहन मे थी, उसे इस निबध से पूरा बल प्राप्त हुआ होगा। यही वजह है कि शुक्ल जी ने इस अग्रेजी निबध का हिन्दीकरण प्रस्तुत किया—हिन्दी अनुवाद नही —भावानुवाद और रूपातरण। साहित्य की भाव-सम्पदा और उच्च सास्कृतिक महत्ता पर बल देते हुए इस निबध मे कहा गया है : "ऊपर जो बातें कही गई उन सबका अब मैं साराश प्रकाशित करता हू कि साहित्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा चुका है कि वह 'विचारो' का शब्दो में अवतीर्ण होना है। और विचारो से तात्पर्य कल्पना, अनुभव, विवेचना तथा और अन्यान्य मन की क्रियाओं से है। साहित्य उन श्रेष्ठ मनुष्यो की शिक्षा और वार्ता है जिन्हें अपनी जाति के प्रतिनिधि रूप मे बोलने का अधिकार प्राप्त है और जिनके शब्दों

1. Newman Idea of A University के अन्तर्गत 'Literature' नामक निबध।

में उनके स्वदेशीय बंधुगण अपने-अपने भावों का प्रतिबिम्ब देखते हैं और अपने अनुभव के साराश का पता लगाते हैं।" (चितामणि 3, पृ० 32)

स्पष्ट है कि यही से शुक्ल जी अपने निबंधो मे साहित्य और कविता की मनुष्यता की उच्च भाव-भूमि पर पहुचे हैं। यही से उन्होंने कोरे शब्द-चमत्कार या अलकरण का विरोध करना आरंभ किया है : "उत्तम ग्रंथकार वह नही है जो गद्य या पद्य मे, सुन्दर भडकीले-भडकीले शब्दो से गुँथा हुआ कोई पद बना सके; उत्कृष्ट कवि वही है जिसे कुछ कहना होता है और जो यह जानता है कि उसे किस प्रकार कहना चाहिए।" (वही पृ० 32)

न्यूमन की ही आलकारिक भाषामे शुक्ल जी ने यह बात यो कही है : 'बहुतों का मत है कि सुन्दर रचना अर्थात् साहित्य किसी वस्तु पर ऊपर से कलई कर देना है, अथवा एक प्रकार के आभूषणो से विभूषित करना है, जिसका साधन केवल ऐसे ही मनुष्य करते हैं जिन्हें ऐसी तुच्छ बातो मे रुचि होती है, और उसके लिए समय मिलता है।·· वे उसको ऐसा ही समझते हैं जैसे भोजन के समय सोने के पात्र और गुलदस्ते इत्यादि, जो भोजन को तो अधिक स्वादिष्ट नहीं बना देते, किन्तु आनन्द को बढाते हैं।" स्पष्ट है कि कोरे कलावाद का विरोध शुक्ल जी ने सर्वप्रथम न्यूमन के इसी निबंध मे पाया।

शुक्ल जी की गद्य-भाषा-शैली पर विचार करते हुए हम उनकी 'यदि·· तो' के प्रयोग द्वारा दीर्घ वाक्य-रचनावली की भावात्मक विशेषता बता आए हैं। उस शैली का प्रयोग भी शुक्ल जी ने यही से आरभ किया, यह उनके इस निबध के इस अंतिम अनुच्छेद से स्पष्ट जाहिर होता है :

"यदि वाणी की शक्ति ईश्वर का सबसे उत्तम प्रसाद है, यदि भाषा की उत्पत्ति बहुत से विद्वानो द्वारा ईश्वर से मानी गई है; यदि शब्दो द्वारा अन्तःकरण के गुप्त रहस्य प्रकट किये जाते हैं; चित्त की वेदना को शांति दी जाती है, हृदय मे बैठा हुआ शोक बाहर निकाल दिया जाता है; दया उत्पन्न की जाती है और बुद्धि चिर-स्थायी बनाई जाती है; यदि बडे ग्रंथकारों द्वारा बहुत-से मनुष्य मिल-कर एक बनाए जाते हैं, जातीय लक्षण स्थापित होता है, भूत और भविष्य तथा पूर्व-पश्चिम एक दूसरे के सम्मुख उपस्थित किए जाते हैं, और यदि ऐसे लोग मनुष्य-जाति मे अवतार-स्वरूप माने जाते हैं—तो साहित्य की अवहेलना करना और उसके अध्ययन से मुख मोडना कितनी बडी भारी कृतघ्नता है!" (चितामणि 3, पृ० 33)

इस निबध के भारतीयकरण या हिन्दीकरण के प्रयास मे शुक्ल जी ने कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपियर आदि महाकवियों और 'बडे ग्रंथकारों' का

जिस प्रकार उल्लेख किया है, उससे यह भी सिद्ध होता है कि शुक्ल जी की मानसिकता आरंभ से ही महाकाव्य की उदात्त और व्यापक मानसिकता रही है।

सन् 1905 ई० में शुक्ल जी का लेख 'कल्पना का आनन्द' नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग 9 में प्रकाशित हुआ था। यह एडिसन के 'प्लेजर्स ऑफ इमेजिनेशन' (Pleasures of Imagination) का अनुवाद है। यह लेख शुक्ल जी के "रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' आदि कई आगामी निबंधों की पृष्ठभूमि बना। यह अनूदित निबंध शुक्ल जी ने 'साहित्य' शीर्षक निबंध से पहले ही लिख लिया था, प्रकाशित बाद में हुआ। इससे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक मानसिकता के अनुरूप ही ऐसे अंग्रेजी निबंधों का चयन किया जो उनकी साहित्यिक मान्यताओं से मेल खाते थे और उन मान्यताओं को दृढ़ बनाने में जिन्होंने योग दिया।

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में शुक्ल जी की एक महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष दर्शन या अनुभव को भी रसात्मक अनुभूति स्वीकार किया। रस को अलौकिक मानने वाली भारतीय चिर-प्राचीन रस-दृष्टि प्रत्यक्ष लौकिक अनुभूति को झुठलाती आई थी। 'कल्पना का आनन्द' नामक इस निबंध से ही सर्वप्रथम शुक्ल जी की प्रत्यक्षानुभूति को भी आनन्दानुभूति मानने की धारणा पुष्ट हुई होगी जिसका मौलिक प्रतिपादन उन्होंने अपने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक निबंध में किया। "प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में (ग्राह्य सुन्दर आलम्बनत्व और ग्रहण-शील मुक्तहृदय दशा) रसानुभूति की कोटि में आ सकती है"—यही सिद्ध करना 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक निबंध का मुख्य उद्देश्य था। 'कल्पना का आनन्द' में एडिसन ने ऐसे ही प्रत्यक्ष रूप-विधान के सौन्दर्य को कल्पना का आनन्द कहा है : "कल्पना के आनन्द से मेरा अभिप्राय उस आनन्द से है जो दृश्य पदार्थों से प्राप्त होता है, चाहे वे पदार्थ ही हम लोगों के सम्मुख हों अथवा उनका रूप हम चित्र, प्रतिमा या वर्णनों द्वारा अपने मन में लावें। निस्सन्देह हमारे चित्त में एक भी प्रतिरूप ऐसा न निकलेगा जो नेत्रों के द्वार से न गया हो।" (चिंतामणि 3, पृष्ठ 34)। एडिसन ने ऐसे आनन्द के दो आधार-भेद किए हैं : 'मैं इस आनन्द को दो भागों में विभक्त करूंगा। पहिले तो मैं उस प्रथम श्रेणी के आनन्द के विषय में कहूंगा, जो सर्वथा ऐसे पदार्थों से उत्पन्न होता है जो हमारे नेत्रों के सामने हैं, तदन्तर उस द्वितीय श्रेणी के आनन्द के विषय में जो दृश्य पदार्थों के केवल ध्यान मात्र से उत्पन्न होता है, जबकि वे पदार्थ हम लोगों की आंख के सामने नहीं रहते,

वरन् हमारी स्मृति मे लाए जाते हैं, अथवा कल्पना द्वारा रमणीय रूपो मे निर्मित किए जाते हैं।" (वही, पृ० 35)

शुक्ल जी ने अपने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक निबंध मे भी इसी मानसिक रूप-विधान को कल्पना और इसके 'विशेष दशाओ मे' अनुभव को रसात्मक बोध या कल्पना का आनन्द माना है . "जब हमारी आखें देखने मे प्रवृत्त रहती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं, जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी रहती है, तब रूप हमारे भीतर दिखाई पडते है। बाहर-भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही। ...तात्पर्य यह है कि मानसिक रूप-विधान का नाम ही संभावना या कल्पना है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)।

एडिसन की तरह शुक्ल जी ने भी इन्द्रिय ज्ञान या दृष्टि अर्थात् प्रत्यक्ष या प्रकृत रूप विधान को ही कल्पना के आनन्द या रसात्मक बोध का आधार माना है। शुक्ल जी द्वारा मूर्त्त बिम्बो को रस के आलम्बन का आधार मानना भी इसी 'कल्पना का आनन्द' से शुरु हुआ होगा, इसम सदेह नही। शुक्ल जी ने जो अपने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' मे तीन प्रकार के रूप-विधान—प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप विधान और कल्पित रूप-विधान बताये हैं, वे भी एडिसन के उपर्युक्त दोनो रूप ही हैं। इसी रूप-विधान के आधार पर शुक्ल जी ने अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण कराने की शक्ति को कविता और काव्य-भाषा की वास्तविक शक्ति माना।

यही नहीं, इसी 'कल्पना का आनन्द' निबंध के आधार पर शुक्ल जी ने प्रकृति के स्वतंत्र आलम्बनगत रूप चित्रण को महत्व देते हुए प्रकृति के साधारण दृश्यो मे भी आनन्द अनुभव किया। एडिसन ने अपने इस निबंध मे प्रकृति के बनावटी—चाहे वे कितने ही कलात्मक दृश्य क्यो न हा—दृश्यो के स्थान पर स्वाभाविक संश्लिष्ट दृश्यो को उत्तम कहा है 'सबसे उत्तम दृश्य जो मैंने आज तक देखा, वह एक परदे पर, जिसमे एक बडी नदी और एक उपवन का दृश्य एक साथ खीचा गया था, उसमे नदी के जल की ऊची-नीची तरगें उपयुक्त और चमकीले रगो मे दिखाई गई थीं, एक ओर से एक नाव धीरे-धीरे पानी पर चल रही थी, किनारे पर उपवन के पेडो की हरी-हरी पत्तिया हवा लगने से हिल रही थीं, जिनकी छाया नदी के जल मे आकर पडती थी, एक ओर हरिनो का एक झुड भी कूदता हुआ दिखाया गया था। मैं स्वीकार करता हू कि ऐसे दृश्य की नवीनता कल्पना की प्रसन्नता का एक कारण हो सकती है, किन्तु यथार्थ में इसका मुख्य कारण उसकी प्रकृति से समानता है, क्योंकि यहां पर, और चित्रो की भांति, हम केवल रग और आकार ही नहीं दरसाया हुआ पाते हैं, वरन् उन पदार्थों की गति भी जो चित्रित किए गए हैं।

' हम पहिले कह चुके हैं कि प्रकृति में शिल्प की विचित्रता की अपेक्षा कोई बात अधिक प्रभावशाली और भव्य होती है। अतएव जब हम किसी अंश में इसका अनुकरण देखते हैं तो वह हमको उसकी अपेक्षा अधिक शुद्ध और ऊंचे प्रकार का आनन्द देता है, जो हम शिल्प के बारीक और सुडौल स्वरूपों से प्राप्त करते है। यही कारण है, जिससे इंगलैंड के बगीचे ऐसे मनोरंजक नहीं होते, जैसे फ्रांस और इटली के, जहां पर हम भूमि का बहुत-सा भाग उद्यान और जंगल के रमणीय मिश्रण से आच्छादित पाते हैं, जो कि सर्वत्र एक बेढंगेपन का दृश्य सामने उपस्थित करता है और उस सफाई और सजावट की अपेक्षा अधिक मनोहर होता है, जो इंगलैंड में देखी जाती है।" (चिंतामणि 3, पृ० 42)

शुक्ल जी के पाठकों को बताने की जरूरत नहीं कि शुक्ल जी का प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी दृष्टिकोण इससे कितना अद्भुत साम्य रखता है!

चिंतामणि 3 में संकलित शुक्ल जी के दो आरंभिक निबंध 'बाबू काशीनाथ खत्री' तथा 'फ्रेडरिक पिन्काट' जीवनीपरक हैं। ये क्रमशः सन 1906 तथा 1908 ई० में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। इनमें इन व्यक्तियों के जीवनपरक तथा कृतित्वपरक परिचय दिए गए हैं। इन दोनों निबंधों में शुक्ल जी की निबंध-कला की कोई विशिष्टता विशेष नहीं है। इनके लिखने का उद्देश्य यही है कि "इनके विषय में जानकारी रखना न केवल हिन्दी भाषा ही के नाते उचित है, वरन् मनुष्यता के नाते से भी, क्योंकि वे न केवल अच्छे ग्रंथकार ही थे, वरन् अच्छे मनुष्य भी थे।" (चिंतामणि 3, पृ० 61) इसी प्रकार के जीवनीपरक तथा कृतित्वपरक दो और निबंध चिंतामणि 3 में संकलित हैं—1. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी' तथा 2 'प्रेमघन की छायास्मृति।' ये क्रमशः सन् 1910 तथा सन् 1931 में प्रकाशित हुए थे। 'प्रेमघन की छायास्मृति' केवल तीन पृष्ठों का शुक्ल जी का एकमात्र आत्मसंस्मरणात्मक निबंध है। 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिंदी' का संशोधित और परिवर्द्धित पुनर्लेख शुक्ल जी ने बाद में चिंतामणि 1 में संकलित किया। इन निबंधों में पहले दो जीवनी-परक निबंधों की अपेक्षा साहित्यिकता और निबंध-शिल्प अधिक है।

चिंतामणि 1 में संकलित शुक्ल जी के प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है' का आरंभिक रूप चिंतामणि 3 में संकलित 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध है। शुक्ल जी ने इस निबंध का कई बार संशोधन, परिवर्द्धन और परिष्कार करके चिंतामणि 1 में अंतिम रूप दिया था।

चिंतामणि 3 में संकलित यह निबंध सर्वप्रथम 1909 ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। चिंतामणि 1 के 'कविता क्या है' निबंध से इसकी तुलना करने

पर स्पष्ट विदित हो जाता है कि किस प्रकार शुक्ल जी के कथ्य और शिल्प दोनो में भव्य विकास हुआ है। 1909 ई० के उस युग मे काव्य और कविता के संबंध मे केवल परम्परागत अलकारवाद के आधार पर ही विचार होता था। किन्तु, हम देखते है कि शुक्ल जी ने अपने इस आरंभिक लेख मे भी कविता की उदात्त भावमयी महत्ता पर अधिक बल दिया है, यद्यपि भाषा और अलङ्कार-सम्बन्धी विचार भी मौलिक रूप मे प्रकट किए है। कालक्रम की दृष्टि से 'कविता क्या है' शुक्ल जी का पहला मौलिक साहित्यिक निबंध है।

'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक निबंध 'आनन्द कादम्बिनी' मे सन् 1907 मे प्रकाशित हुआ था। इसमे शुक्ल जी ने राजा शिवप्रसाद की मुसलमानी हिन्दी का विरोध करते हुए भारतेन्दु द्वारा हिन्दी के वास्तविक रूप को प्रचलित करने की प्रशंसा की है "राजा शिवप्रसाद मुसलमानी हिन्दी का स्वप्न ही देखते रहे कि भारतेन्दु ने स्वच्छ आर्य हिन्दी की शुभ्र छटा दिखाकर लोगो को चमत्कृत कर दिया, लोग चकपका उठे, यह बात उन्हें प्रत्यक्ष देख पडी कि यदि हमारे प्राचीन धर्म, गौरव और विचारो की रक्षा होगी तो इसी भाषा के द्वारा।
इधर सैकडो वर्ष से हम अपने पूर्व सचित सस्कारों को जलाजलि दे रहे थे। भारतवर्ष की भुवनमोहिनी छटा से मुह मोडकर शीराज और इस्फान की ओर लौ लगाए थे, गगा-जमुना के शीतल शान्तिदायक तट को छोडकर दजला और फरात के रेतीले मैदानों के लिए लालायित हो रहे थे, हाथ मे अलिफलैला की किताब पडी रहती थी: एक झपकी ले लेते थे तो अलीबाबा के अस्तबल मे जा पहुचते थे। हातिम की सखावत के सामने कर्ण का दान और युधिष्ठिर का सत्यवाद भूल गया था, शीरीफरहाद के इश्क ने नल-दमयन्ती के सात्विक और स्वाभाविक प्रेम की चर्चा बद कर दी थी। मालती, मल्लिका, केतकी आदि फूलो का नाम लेते या तो हमारी जीभ लटपटाती थी या हमको शर्म मालूम होती थी। वसत ऋतु का आगमन भारत मे होता था, आमो की मजरी से चारो दिशाए आच्छादित होती थी पर हमको कुछ खबर नही रहती थी, हम उन दिनो गुले-लाला और गुले नरगिस के फिराक मे रहते थे, मधुकर गूजते और कोयलें कूकती थी, पर हम तनिक भी न चौंकते थे, अड्डे पर कान लगाए हम बुलबुल का नाला सुनते थे।" (चितामणि 3, पृ० 71)

इस निबंध मे शुक्ल जी ने उर्दू-फारसी-नुमा हिन्दी या हिन्दुस्तानी का जबरदस्त विरोध किया है। इसी संदर्भ मे उनका आक्रोश तत्कालीन राजनीति—मुसलमानो को खुश करने की नीति का भी विरोध प्रकट हो गया है; 'हम हिन्दू हैं, हिन्दुस्तान हमारा देश है, हिन्दी हमारी भाषा है।' मुट्ठी भर मुसलमानों के लिए हम कदापि अपनी भाषा को लाछित न करेंगे।' यह भी कोई

राजनीतिक युक्ति नही है कि एक तरफ तो मुसलमान लोग ऐंठे जा रहे हैं, दूसरी तरफ हमारे माननीय लोग अपनी मधुर वक्तृताओं मे उन्हें लपेटते जाते हैं।··· क्या बगाल देश मे मुसलमान नही हैं ? क्या सस्कृत-मिश्रित बगला भाषा के लिए वहाँ राह नही निकल गई ? क्या छोटे-छोटे बगालियों के बालक उन सस्कृत शब्दों को मधुरता से उच्चारण करते नही पाए जाते जिनको सुनकर हमारे मुशी लोग इतना चौंकते हैं ? · जब नागरी को राष्ट्रलिपि और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का उद्योग बगाल और महाराष्ट्र प्रदेशो मे भी हो रहा है, उस समय हिन्दी को इन प्रदेशो की भाषाओ से दूर रहना ठीक नही · ।" (चिंतामणि 3, पृ० 72)

सन् 1907 का यह लेख—स्वतन्त्रता-प्राप्ति से 40 वर्ष पूर्व और गांधी जी के भी भारतीय राजनीतिक क्षेत्र मे उतरने से पूर्व—भारत की भावी राजनीति *और राष्ट्रभाषा हिन्दी के निर्माण का कितना भारी सकेत* दे रहा है, कहने की जरूरत नही। शुक्ल जी की उम्र ही उस समय कितनी थी ! इतनी सी अवस्था मे ऐसी प्रौढ रचना ! शुक्ल जी का यह प्रथम मौलिक निबंध उनके स्वाधीन चिंतन और निर्भीक अभिव्यक्ति का परिचायक है। इसमे शुक्ल जी ने लेखकों की भाषा को सुधारने और आलोचना करने वाले 'सरस्वती' पत्रिका के मालिकों और सपादक प० महावीरप्रसाद द्विवेदी को भी आडे हाथों लिया है। "सहसा प्रयाग की सरस्वती के मालिकों का ध्यान सरलता की ओर जा पडा, ग्राहक बढाने के हेतु पत्रिका को भी सरल और कौतूहल-प्रदायिनी बनाने की चेष्टा होने लगी। इस सरलता का जाज्वलयमान उदाहरण पहिले-पहल 1904 ई० मे नास्तिक-आस्तिक संवाद, प्रकाशित हुआ। इसमें मजाक, तकरीर, महद्दद, ऐब-जोई, हकीर और कोताह-बुद्धि आदि शब्दो द्वारा भाषा एक बारगी सरल कर दी गई !" (पाद टिप्पणी—आश्चर्य की बात है कि एक महीने पहिले द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित भौगोलिक परिभाषा के 'थाह-मापक' *सूत्र की आलोचना इस प्रकार की थी*—" 'थाह प्राकृत और मापक' सस्कृत ! इस तरह का समास, हमने सुना था, नही होता।" हम नही समझते कि फिर 'कोताह' फारसी और 'बुद्धि' सस्कृत का समास कैसे हो गया !)

शुक्ल जी ने भाषा के स्वरूप के साथ इस निबंध मे शब्द प्रयोग, शब्द-योजना और उपमान-योजना पर भी विचार किया है। वे पर्यायवाची शब्दों मे भी उन्हीं शब्दो के प्रयोग को उचित मानते थे, जो सर्वाधिक प्रचलित हो, 'इन अनेक नामो मे से साधारण गद्य मे उसी शब्द को स्थान देना चाहिए जो सबसे अधिक प्रचलित है—जैसे सूर्य, चन्द्रमा। 'रवि उदय होता है', भास्कर अस्त होता है', 'विधु का प्रकाश फैला है,' ऐसे-ऐसे वाक्य कानो को खटकते हैं। हा, जहाँ

'प्रचण्ड मार्तण्ड की उद्दण्डता' दिखाना हो, वहा की बात दूसरी है, पर मैं तो वहा भी ऐसे शब्दो की उतनी अधिक आवश्यकता नही समझता। शब्दालकार केवल कविता के लिए प्रयोजनीय कहा जा सकता है।" (चितामणि 3, पृ० 74)। इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी प्रचलित भाषा के ही पक्ष मे थे, सस्कृत तत्सम-बहुला भाषा के पक्ष मे नही थे। हा, विषय और शैली के अनुसार तत्समता मे न्यूनाधिक्य होगा ही। उनके निबधो मे जो सस्कृत निष्ट तत्समता पाई जाती है, वह विषय की गम्भीरता के ही कारण है। उपमान योजना के बारे म उनका कथन है—"उपमा का कार्य सादृश्य दिखलाकर भावना को तीव्र करना है। सादृश्य दिखलान के लिए जो पदार्थ उपस्थित किये जाय वे प्राकृतिक और मनोहर हो, कृत्रिम और क्षुद्र नही, उपमान और उपमेय मे जितनी ही अधिक बातो म समानता होगी उतना ही उपमा उत्कृष्ट कही जाएगी।"

केवल तीन पृष्ठो का 'उपन्यास' शीर्षक निबध सन् 1910 मे नागरी प्रचारिणी पत्रिका म प्रकाशित हुआ था। इस निबध की रचना का उद्देश्य तात्कालिक हिन्दी उपन्यास को अस्वाभाविक और अवास्तविक घटना-चक्र से निकाल कर जीवन के यथार्थ मार्ग पर लाना था। उनका कथन है, 'उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अग है। मानव प्रकृति पर इसका प्रभाव पडता है।' बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासो का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना। तोता मैना का किस्सा और तिलस्म ऐय्यारी की कहानिया निस्सदेह कल्पना की क्रीडा है और असत्य है, पर स्वर्णलता, दुर्गेशनदनी, बगविजेता, जीवन-सध्या, बडा भाई, आदि के ढग के गार्हस्थ्य और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमान-मूलक और सत्य हैं, उच्च श्रेणी के उपन्यासो म वर्णित छोटी-छोटी घटनाओ पर यदि विचार किया जाय तो जान पडेगा कि वे यथार्थ म सृष्टि के असख्य और अपरिमित व्यापारो से छाटे हुए नमूने है।" (चितामणि 3, पृ० 102)

सन 1910 म शुक्ल जी ने लिखा है कि इतिहास के बडे-बडे राजा महाराजाओ की कहानियो की अपेक्षा दीन से दीन गरीबो की झोपडियो मे जीवन की अधिक सचाई है। "वर्डस्वर्थ, थैकरे, डिकन्स और जार्ज एलियट आदि बडे-बडे अगरजी कवि और उपन्यास लेखक तथा लेखिकाओ ने दीन से दीन और तुच्छ से तुच्छ लोगो की झोपडियो मे जीवन के ऊँचे से ऊँचे आदर्श दिखलाए हैं।" (वही पृ० 105)

'क्षात्रधर्म का सौन्दर्य' 1921 मे 'स्वदेश' मे प्रकाशित हुआ था। इसमे शुक्ल जी की वही कर्म-सौन्दर्य और वीर-भावना की दृष्टि है जो शील, शक्ति और सौन्दर्य के समन्वित रूप उनके भगवान राम मे—अत्याचारियों का दमन

करने वाले उत्साही वीरों मे, आगामी 'उत्साह', श्रद्धा-भक्ति, लोक-मंगल की साधनावस्था, आदि निबंधों मे प्रकट हुई। इस निबंध में अनेक वाक्य और उद्धरण उनके इन आगामी निबंधों मे पाये जाते हैं। कुछ टुकड़े देखिए, "चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान मे राम और भरत ऐसे रूपवानों के अंतःकरण की छटा का क्या कहना है! व्यक्ति-सम्बन्धहीन सिद्धान्त मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हो, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरंजनकारी तभी लगते है जब किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे देखे जाते हैं।" "संसार से तटस्थ रहकर शांति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश देने वाले का उतना अधिक महत्त्व हमारे हिन्दूधर्म मे नहीं है, जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्विक सौन्दर्य की ज्योति जगाने वालों का है। हमारे यहां उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म सौन्दर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं।" "निर्लिप्त रहकर दूसरों का गला काटने वालों से लिप्त रहकर दूसरों की भलाई करने वाले कहीं अच्छे हैं—क्षात्रधर्म ऐकान्तिक नहीं है, उसका सम्बन्ध लोकरक्षा से है। अतः वह जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला है।"... . आजकल मनुष्य की सारी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। सब की टकटकी टके की ओर लगी हुई है। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए।" "जब तक व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुखशांति न होगी। दूर यह अवश्य होगा, पर जिस प्रकार और सब पागलपन दूर होते है, उसी प्रकार। क्षात्र-धर्म की संसार मे फिर प्रतिष्ठा होगी। चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।" ..."पाप का फल छिपाने वाला पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी है। पर ऐसे बहुत से लोग हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। यदि वही पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड देना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो, पर यदि *अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोक-संग्रह की* दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।" (चिंतामणि ३, पृ० 186-188)

इसी प्रकार 'सभ्यता के आवरण और कविता' शीर्षक संकलित, केवल दो पृष्ठों का निबंध, जो 1928 ई० मे 'सुधा' में प्रकाशित हुआ था, उनके 'कविता क्या है' आदि आगामी निबंधों का ही एक अंश है।

प्रेमघन की छाया-स्मृति—शुक्ल जी ने एकमात्र आत्मसस्मरण प्रेमघन की छाया स्मृति' सन् 1931 मे लिखा जो 'हस' के जनवरी-फरवरी 1931 के आत्म-कथाक मे प्रकाशित हुआ था। इसे शुक्ल जी ने उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन की स्मृति (छाया-स्मृति) मे लिखा था, पर 'प्रेमघन' की स्मृति के साथ-साथ बल्कि उससे भी अधिक यह सस्मरण शुक्ल जी के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है। इसी से आत्मसस्मरणात्मक हो गया है। केवल तीन पृष्ठो के इस सस्मरण का महत्त्व इसलिए भी विशेष है कि साहित्यिक सरसता के साथ-साथ इसमे शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास की पृष्ठभूमि हमे मिलती है। इस निबध से विदित होता है कि—

(1) शुक्ल जी के पिताजी "फारसी के अच्छे ज्ञाता और पुरानी हिन्दी कविता के बडे प्रेमी थे।" "वे रात को प्राय. रामचरितमानस और रामचद्रिका, घर के सब लोगो को एकत्र करके बडे चित्ताकर्षक ढग से पढा करते थे। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे भारतेन्दु जी के नाटक उन्हे बहुत प्रिय थे। उन्हे भी वे कभी-कभी सुनाया करते थे।"

(2) जब शुक्लजी की अवस्था केवल आठ वर्ष की थी तभी से बल्कि "उसके पहिले ही से भारतेन्दु के सम्बन्ध मे एक अपूर्व मधुर भावना" शुक्लजी के मन मे जगी रहती थी। 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र मे उनकी बाल-बुद्धि कोई भेद नही कर पाती थी।

(3) जब उनके पिता की बदली हमीरपुर जिले की राठ तहसील से मिर्जापुर हुई तब उस आठ वर्ष की अवस्था मे मिर्जापुर आकर उन्हें पता चला कि भारतेन्दु के एक मित्र उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी मिर्जापुर रहते हैं। भारतेन्दु मण्डल की किसी सजीव स्मृति के प्रति उनकी कितनी उत्कण्ठा रही थी, यह इसी से सिद्ध होता है कि शुक्लजी एक दिन बालको की मण्डली जोडकर प्रेमघनजी के मकान पर दूर ही से उनकी एक झलक पाने गए। "लता प्रतान के बीच एक मूर्ति खडी दिखाई पडी। दोनो कधो पर बाल बिखरे हुए थे। बस यही पहली झाकी थी।"

(4) 16 वर्ष की अवस्था तक पहुचते-पहुचते किस प्रकार शुक्लजी का हिन्दी-प्रेम और साहित्य-रुचि बढ गई, इस बात का वर्णन उन्होने इस प्रकार किया है, 'ज्यों-ज्यो मैं सयाना होता गया त्यो-त्यों हिन्दी के नूतन साहित्य की ओर मेरा झुकाव बढता गया। क्वीन्स कालेज मे पढते समय स्वर्गीय बा० राम कृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के सहपाठियो मे थे। भारत जीवन प्रेस की पुस्तकें प्राय मेरे यहा आया करती थी, पर अब पिताजी उन पुस्तको को छिपाकर रखने लगे। उन्हें डर हुआ कि कही मेरा चित्त स्कूल की पढाई से हट न जाय—मैं बिगड न

जाऊ। उन्ही दिनो प० केदारनाथ जी पाठक ने एक हिन्दी पुस्तकालय खोला था। मैं वहा से पुस्तकें लाकर पढा करता। एक बार एक आदमी साथ करके मेरे पिताजी ने मुझे एक बरात म काशी भेजा। मैं उसी के साथ घूमता फिरता चौखभा की ओर जा निकला। वही पर एक घर मे से प० केदारनाथ जी पाठक निकलते दिखाई पडे। पुस्तकालय म वे मुझे प्राय देखा करते थे। इससे मुझे देखते ही वे वही खडे हो गए। बात ही बात मे मालूम हुआ कि जिस मकान मे से वे निकले थे वह भारतेन्दुजी का घर था। मैं बडी चाह और कुतूहल की दृष्टि से कुछ देर तक उस मकान की ओर न जाने किन किन भावनाओ म लीन होकर देखता रहा। पाठकजी मेरी भावुकता देख बड़े प्रसन्न हुए और बहुत दूर तक मेरे साथ बात-चीत करते हुए गये। भारतेन्दुजी के मकान के नीचे का यह हृदय-परिचय बहुत शीघ्र गहरी मैत्री मे परिणत हो गया। 16 वर्ष की अवस्था तक पहुचते पहुचते तो समवयस्क हिन्दी प्रेमियो की एक खासी मडली मुझे मिल गई, जिनम *श्रीयुत काशीप्रसादजी जायसवाल, बा० भगवानदासजी हालना, प० बदरी* नाथ गौड, प० उमाशकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नये पुराने लेखको की चर्चा बराबर इस मडली म रहा करती थी। मैं भी अब अपने को एक लेखक मानने लगा था। हम लोगो की बातचीत प्राय लिखने पढने की हिन्दी मे हुआ करती जिसम 'निस्सदेह इत्यादि शब्द आया करते थे। जिस स्थान पर मैं रहता था, वहा अधिकतर वकील-मुख्तारो तथा कचहरी के अफसरो और अमलो की बस्ती थी। ऐसे लोगो के उर्दू कानो म हम लोगों की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इसीसे उन्हाने हम लोगो का नाम निस्सदेह' लोग रख छोडा था।"

बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन का जो सक्षिप्त छाया स्मृति चित्र उन्होने प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त मार्मिक है। शुक्लजी लिखते हैं, 'चौधरी साहब से तो अब अच्छी तरह परिचय हो गया था। अब उनके यहा मेरा जाना एक लेखक की हैसियत से होता था। हम लोग उन्हें एक पुरानी चीज समझा करते थे। इस पुरातत्व की दृष्टि म प्रेम और कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि चौधरी साहब एक खासे हिन्दुस्तानी रईस थे। बसन्त पचमी, होली इत्यादि अवसरो पर उनके यहा खूब नाच-रग और उत्सव हुआ करते थे। उनकी हर *एक अदा से रियासत और तबीयतदारी टपकती थी। कधो तक बाल लटक रहे हैं। आप इधर से उधर टहल रहे हैं।* एक छोटा सा लडका पान की तश्तरी लिए पीछे पीछे लगा हुआ है।' और उपाध्याय बदरी-नारायण चौधरी प्रेमघन की इस रईसाना तबीयत का एक जो सस्मरण शुक्लजी ने प्रस्तुत किया है, वह कितना हास्यपूर्ण और मार्मिक है देखिए—"मेरे सहपाठी प० लक्ष्मीनारायण चौबे, बा० भगवानदास हालना, बा० भगवानदास मास्टर—

उन्होंने उर्दू-बेगम नाम की एक बड़ी ही विनोदपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसमें उर्दू की उत्पत्ति, प्रचार आदि का वृत्तांत एक कहानी के ढंग पर दिया गया था—इत्यादि कई आदमी गर्मी के दिनों में छत पर बैठे चौधरी साहब से बातचीत कर रहे थे। चौधरी साहब के पास ही एक लैम्प जल रहा था। लैंप की बत्ती एक बार भभकने लगी। चौधरी साहब नौकरों को आवाज देने लगे। मैंने चाहा कि बढ़कर बत्ती नीचे गिरा दूं, पर लक्ष्मीनारायण ने तमाशा देखने के विचार से मुझे धीरे से रोक लिया। चौधरी साहब कहते जा रहे हैं, "अरे जब फूट जाई तबै चलत आवहा," अंत में चिमनी ग्लोब के सहित चकनाचूर हो गई, पर चौधरी साहब का हाथ लैम्प की तरफ न बढ़ा।" (चितामणि 3, पृष्ठ 230)

इस प्रकार 'प्रेमघन की छाया स्मृति' इस संग्रह का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबंध है जो शुक्लजी का एकमात्र रोचक संस्मरण है और संस्मरणात्मक निबंध की सभी विशेषताओं से ओतप्रोत है। इसमें वर्णन और विवरण की मार्मिकता है, स्मृत व्यक्ति (प्रेमघन) और संस्मरणकार (शुक्लजी) दोनों के व्यक्तित्व को सजीवता के साथ प्रकट करने की विशेषता है और भरपूर रोचकता तथा रजकता है। इसमें कहानी की कथात्मक रजकता, रेखाचित्र की चित्रमयता, जीवनी साहित्य की सत्यता तथा हास्य व्यंग्य की सरसता आदि ऐसे सभी गुण हैं जो इसे एक सफल संस्मरणात्मक निबंध बनाते हैं। "हम लोग उन्हें एक पुरानी चीज समझा करते थे। इस पुरातत्व की दृष्टि में प्रेम और कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण रहता था.. आप इधर से उधर टहल रहे हैं। एक छोटा-सा लड़का पान की तश्तरी लिए पीछे पीछे लगा हुआ है। 'कारे बचा त नाही' आदि कथनों और उद्धरणों द्वारा शुक्लजी ने न केवल अपने नायक पर मीठी छीटाकशी की है, अपितु वे आत्मव्यंग्य से भी नहीं सकुचाए हैं। अपनी किशोरमंडली की पढ़ने-लिखने वाली हिंदी बोलने का मजाक उन्होंने निस्सदेह इस वर्णन में उड़ाया है हम लोगों की बातचीत प्राय लिखने पढ़ने की हिन्दी में हुआ करती जिसम थे। ऐसे लोगों के उर्दू कानों म हम लोगों की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इससे उन्होंने हम लोगों का नाम निस्सदेह लोग रख छोड़ा।"

(वही, पृ० 229)

'कविता की परख' और 'गद्य-प्रबंध के प्रकार' दो-दो तीन-तीन पृष्ठों के छोटे-छोटे लेख शुक्लजी ने सन् 1933 म हाईस्कूल तथा उसके समकक्ष परीक्षाओं के लिए स्व संपादित हिन्दी गद्य-चन्द्रिका' पाठ्य पुस्तक में संकलित करने के लिए लिखे थे जो सामान्य परिचयात्मक छात्रोपयोगी लेख मात्र है। 'प्रेम आनन्दस्वरूप है' डेढ़ पृष्ठ का छोटा सा लेख है जो 'प्रेमा' पत्रिका के अप्रैल-मई 1932 अंक म प्रकाशित हुआ था। इसमें सामान्य ढंग से प्रेम का आनन्दस्वरूप होना दर्शाया

गया है। यह उनके प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदि भावो के महत्त्व तथा रस-दृष्टि का ही सूचक है। चिंतामणि 3 में चार पुस्तको की भूमिकाए या प्रवेशिकाएँ हैं—विश्वप्रपच की भूमिका, 'शशाक की भूमिका' बुद्धचरित की भूमिका तथा शेष स्मृतिया की प्रवेशिका इनका निबध की अपेक्षा पुस्तक की भूमिका के रूप म ही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार चिंतामणि 3 मे सकलित शुक्ल जी के आरभिक निबधो का विशेष महत्त्व है। ये निबध न केवल उनकी मानसिकता और निबध कला के क्रमिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है बल्कि प्रेमघन की छाया स्मृति जैसे प्रौढ आत्म-सस्मरण भी हैं।

००